



धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रिय  
चेतना की पत्रिका  
अंक : ६४-६५  
(संयुक्तांक)

मास : पौष-ज्येष्ठ  
विक्रमाब्द : २०६०-६१  
जनवरी-जून, २००४ ई०

**सम्पादक - मण्डल**

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

प्रो० काशीनाथ मिश्र

महन्त उद्धवदासजी

डा० श्रीरंजन सूरिदेव

आचार्य किशोर कुणाल

**प्रधान सम्पादक**

भवनाथ झा

**सह-सम्पादक**

मार्कण्डेय शारदेय

महावीर मन्दिर प्रकाशन  
के लिए

प्रो० काशीनाथ मिश्र

द्वारा प्रकाशित

तथा

सर्चलाइट प्रेस में मुद्रित

पत्र-सम्पर्क:

धर्मायण,

पाणिनि-परिसर,

बुद्ध-मार्ग,

पटना-800001

मूल्य : दस रुपये

# धर्मायण

## विषयसूची

❖ सम्पादकीय	:	२
❖ हर हर महादेव	:	आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ७
❖ अवतार में अवतार	:	डा० युगेश्वर १०
❖ सा विद्या या विमुक्तये : मूलभाव	:	डा० श्रीरंजन सूरिदेव १६
❖ श्रवणकुमार का उपाख्यान	:	आचार्य किशोर कुणाल २५
❖ सरस्वती-कृपा से ही		
साहित्य-सृजन सम्भव	:	कृष्णानन्द ३३
❖ शारदा-शतनाम	:	३६
❖ उपनिषदों में प्रतिपादित		
आत्मा एवं ब्रह्म	:	डा० रामविलास चौधरी ३७
❖ धरती, संस्कृति और भाषा:		
राष्ट्रीयता की पहचान के तीन तत्त्व	:	प्रो० रामाश्रय प्रसाद सिंह ४१
❖ परम शान्ति का मूल मन्त्र :		
"...सर्वभूतहिते रताः"	:	डा० एस०एन०पी० सिन्हा ५१
❖ यशोदा के भाग्य	:	रामभवन सिंहआँ५६
❖ वेदों में पशुबलि का विधान नहीं	:	कमलेश नन्दिनी ५६
❖ मानस में मानवीय दृष्टियाँ	:	कैलाश त्रिपाठी ६२
❖ हिन्दी के प्रचार-प्रसार में		
धर्म-संवाहकों का योगदान	:	डा० तारकेश्वर नाथ सिन्हा ६८
❖ कविवर रहीम की भक्तिभावना	:	डी० आर० ब्रह्मचारी ७२
❖ भ्रूण-पंचाशिका	:	भवनाथ झा ७६
❖ पाठकीय प्रतिक्रिया	:	७६
❖ व्रत-त्योहार	:	८०



## भवानी-शंकरौ वन्दे श्रद्धा-विश्वास-रूपिणौ

गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'श्रीरामचरित-मानस' में जगत्पिता भगवान् शंकर एवं जगन्माता भगवती पार्वती की वन्दना करते हुए कहा है—

**भवानी-शंकरौ वन्दे श्रद्धा-विश्वास-रूपिणौ।**

**याभ्याविनानपश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥**

अर्थात् मैं श्रद्धा और विश्वास-रूपी भवानी एवं शंकर की वन्दना करता हूँ, जिनके बिना सिद्ध, योगी, यती अपने हृदय में स्थित ईश्वर के दर्शन नहीं कर सकते।

यहाँ उपमेय भवानी के लिए श्रद्धा तथा शंकर के लिए विश्वास का उपमान रखा गया है। भवानी-शंकर पर श्रद्धा-विश्वास के आरोप के कारण रूपक है। आशय यह है कि भवानी ही श्रद्धा हैं और शंकर ही विश्वास हैं। इन दोनों की सहभागिता या योगदान से ही आत्माराम का साक्षात्कार सम्भव है।

ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। वह परमात्मा ही आत्मा, अन्तरात्मा, सर्वात्मा एवं विश्वात्मा के नाम से पुकारा जाता है। उसे ढूँढ़ने में हम कस्तूरी-मृग की तरह इधर-उधर भटकते-फिरते हैं। कस्तूरी-मृग की नाभि में ही कस्तूरी रहती है और उसकी सुगन्ध से अत्यन्त आकृष्ट वह अनभिज्ञ मृग उसकी खोज में इधर-उधर चौकड़ी मारता है। वह जहाँ जाता है, उसे लगता है कि पास ही में सुगन्धित वस्तु होगी। वह पास के पास में जाने का उतावला है; प्रयत्न भी करता है, पर अज्ञान के कारण वह अपने में नहीं टटोलता है।

हम भी वही करते हैं। ईश्वर की खोज में कहाँ-कहाँ भटकते फिरते हैं। देवस्थान से लेकर तीर्थस्थान तक का चक्कर लगाते हैं।

जैसे हम अपनी आँखों से अपनी आँखें नहीं देख सकते, वैसे ही हम अपने में ही स्थित ईश्वर को नहीं देख पाते हैं। जैसे अपनी आँखों को खुद देखने के लिए दर्पण की आवश्यकता होती है, वैसे

ईश्वर के साक्षात्कार हेतु हमें शास्त्ररूपी दर्पण की आवश्यकता होती है।

हितोपदेश के मित्रलाभ में तो शास्त्र को दर्पण से भी बढ़कर नेत्र ही कहा गया है—

**अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।**

**सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यथ एव सः॥**

(श्लोकसंख्या : १०)

अर्थात् अनेक सन्देहों को दूर करनेवाला तथा भूत-भविष्य की बातें बतानेवाला शास्त्ररूपी नेत्र जिसके पास नहीं है, वह अन्धा है।

शास्त्र महर्षियों, योगियों एवं सिद्धों के चिन्तन से निष्पन्न समुद्र-मन्थन के रत्न के समान हैं। वे सोपान हैं। वे हमारे भटकाव को दूर करने के लिए ही बने हैं। जैसे गाँव जाते हुए किसी ने तिनके का स्पर्श कर लिया तो वह तिनका कर्म नहीं, अभीप्सित नहीं है, वैसे ही अभीप्सित आत्मज्ञान के क्रम में आनेवाले अन्य कर्म भी अनभिहित ही हैं।

**अहंब्रह्मास्मिद्धमैब्रह्महूँ ईश्वरः**

**सर्वभूतानांहृद्देशेऽर्जुनतिष्ठतिद्धहैर्जुन!ईश्वर**

**सभी प्राणियों के हृदय-प्रदेश में स्थित हैद्ध, तत्त्वमसि**

**द्धवहतुमहोद्धतथा—कहतकबीरसुनोभाई**

**साधो,सबसाँसनकीसाँसमेंआदिसंख्य**

शास्त्रवचन हैं, जो आत्मज्ञान की ओर प्रेरित करते हैं।

प्रश्न है कि जब सभी शास्त्र अन्तःस्थ ईश्वर के साक्षात्कार की ओर प्रेरित करते ही हैं और हम समझते भी हैं, फिर क्यों समझकर भी नासमझ बन बैठे हैं? क्यों भटकते फिरते हैं?

वस्तुतः दो चीजें हैं, जिनकी कमी रह जाती है। वे हैं— श्रद्धा तथा विश्वास। जब श्रद्धा और विश्वास का योग हो जाए, तब ईश्वर-दर्शन के बाधक तत्त्व स्वतः दूर हो जाएँगे। इसीलिए गोस्वामीजी ने कहा है—

**याभ्याविनानपश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।**

वास्तव में श्रद्धा और विश्वास दो नहीं, एक ही हैं। श्रद्धा को परिभाषित करते हुए अनेक आचार्यों ने उक्तिवैषम्य के बावजूद तत्त्वतः साम्य रखा है। किसी आचार्य के अनुसार श्रद्धा

**फलावश्यम्भावनिश्चयः** अर्थात् अवश्य ही फल मिलेगा, इस निश्चय का नाम श्रद्धा है तो किसी आचार्य की उक्ति है—**श्रद्धा आगमार्थ-सम्प्रत्ययः** अर्थात् वेदवाक्यों में जो बताए गए हैं, उनपर अडिग विश्वास का नाम ही श्रद्धा है। इसी तरह की बात एक अन्य आचार्य ने भी कही है—**श्रद्धा श्रुत्याद्युक्तेऽर्थेऽस्तिकत्वम्** अर्थात् वेद आदि के कहे अर्थ पर विश्वास रखना ही श्रद्धा है। **श्रद्धा सम्प्रत्ययः स्पृहा क ह कर एक आचार्य ने अडिग विश्वास-पूर्वक चाह का नाम श्रद्धा दिया है। पुनः एक आचार्य ने बुद्धि की अस्तिकता को ही श्रद्धा कहा है—श्रद्धा अस्तिक्य बुद्धिः।**

इन विविध परिभाषा सूत्रों ने श्रद्धा शब्द के अन्तर्गत विद्यमान तथ्यरूपी नवनीत को अपनी-अपनी दृष्टि से प्रदर्शित किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि श्रद्धा सम्प्रत्यय ही है।

प्रत्यय का अर्थ विश्वास है और सम्प्रत्यय (सम्यक् प्रत्यय) का अर्थ अडिग विश्वास। वस्तुस्थिति यही है कि किसी के प्रति श्रद्धा तभी होती है, जब विश्वास होता है। विश्वास के अभाव में श्रद्धा और श्रद्धा के अभाव में विश्वास रह ही नहीं सकते। गोस्वामीजी ने दो रूप और दो नाम से व्यक्त एक रूप और एक नाम को निरूपित करने के लिए ही श्रद्धा-विश्वास को उमा-महेश्वर का उपमान बनाया है।

श्रद्धा स्त्रीवाचक है और विश्वास पुरुषवाचक। लैंगिक दृष्टि से भले भिन्न हैं, पर तात्त्विक दृष्टि से एक। महाकवि कालिदास ने भी वाणी और अर्थ के उपमान से पार्वती तथा परमेश्वर को उपमित करते हुए कहा है—

**वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ-प्रतिपत्तये।  
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ॥**

(रघुवंश : १.१)

अर्थात् मैं शब्द और अर्थ के बोध के लिए वाक् (वाणी) और अर्थ की तरह जुड़े हुए संसार के माता-पिता (अर्थ नारीश्वर-रूप) उमा-शंकर की वन्दना करता हूँ।

रघुवंश महाकाव्य के इस मंगलाचरण में भी शिव-पार्वती को लैंगिक आधार पर भिन्नता दिखाते हुए एक ही यत्न भिन्न को ही स्पष्ट किया गया है। श्रद्धा और विश्वास भी इसी तरह हैं— एक-दूसरे के पूरक, बोधक। गोस्वामीजी का कहना है कि स्वान्तःस्थ ईश्वर को देखने के लिए श्रद्धा और विश्वास चाहिए। श्रद्धा का रूप धारण कर माता पार्वती तथा विश्वास का रूप धारण कर प्रभु शंकर योगियों के हृदय में ही रमण करनेवाले, विद्यमान रहनेवाले राम आदि नाम से मण्डित ईश्वर के दर्शन कराते हैं।

गोस्वामीजी ने 'सिद्धाः' पदकाप्रयोग किया। वे चाहते तो 'लोकाः' पदकाभी प्रयोग कर सकते थे और तब होता—**याभ्यां विना न पश्यन्ति लोकाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्** अर्थात् जिनके बिना लोग अन्तःस्थित ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। उन्होंने ऐसा इसलिए नहीं लिखा कि वे लोगों को जानते थे। आम आदमी के पास श्रद्धा एवं विश्वास की कमी होती है। आम आदमी कस्तूरी-मृग की भाँति भ्रान्तिमान् होता है। वह कभी ईश्वर को देख नहीं सकता। देखनेवाले तो अलग होते हैं। जो हैं, वे अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न हैं। आन्तरिकता को देखने के लिए अन्तर्दृष्टि की ही आवश्यकता है और यह सामान्य जन के पास न होकर जो आत्मज्ञान-रत या परमात्म-तत्त्व में लीन रहते हैं, उनके पास होती है। इसीलिए गोस्वामीजी ने 'सिद्धाः' पदकाप्रयोग किया है। अर्थात् जो योगक्रिया आदि के द्वारा अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक रहते हैं, वे ही ईश्वर का साक्षात्कार करते हैं।

श्रद्धा का सर्वत्र महत्त्व है। वास्तव में यह हमारा आन्तरिक वैशिष्ट्य है, इस कारण शक्ति है। देवीरूपा है, यह दिव्य गुणों से सम्पन्न है। इसीलिए 'दुर्गा-सप्तशती' के पाँचवें अध्याय में श्रद्धारूपा देवी की स्तुति की गई है—

**या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता।  
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥**

(श्लोकसंख्या : २४)

'दुर्गा-सप्तशती' के ग्यारहवें अध्याय में भी निशुम्भ-शुम्भमर्दिनी देवी की स्तुति में देवताओं द्वारा अनेक नामों के साथ श्रद्धा भी आख्यात है—

**लक्ष्मि लज्जे महाविद्ये श्रद्धे पुष्टि स्वधे ध्रुवे।  
महारात्रि महामाये नारायणि नमस्तु ते॥**

(श्लोकसंख्या : २१)

इसी तरह अग्निपुराण के देवराज इन्द्रकृत 'लक्ष्मीस्तोत्र' में भी अनेक अभिधानों के साथ श्रद्धा का भी ग्रहण है—

**त्वं सिद्धिस्त्वस्वधास्वाहासुधात्वं लोकपावनि।  
सन्ध्या रात्रिः प्रभा भूतिर्मेधा श्रद्धा सरस्वती॥**

(अध्याय : २३७.३)

श्रद्धारूपा देवी सभी प्राणियों में रहती हैं, सबके साथ रहती हैं। इसीलिए लोगों की श्रद्धा कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में रहती है। किसी व्यक्ति के प्रति ही सही, किसी वस्तु के प्रति ही सही, किसी देवता के प्रति ही सही, अल्प ही सही, पर रहती अवश्य है।

श्रद्धा आदर का भी पर्याय है। जब हम किसी के प्रति आदर रखते हैं, तब वहाँ श्रद्धा देवी उपस्थित होती है। श्रद्धा आकांक्षा का भी पर्याय है। जब किसी वस्तु की इच्छा होती है, कोई चाहत होती है, तब वहाँ भी श्रद्धा देवी ही उपस्थित हैं। श्रद्धा प्राणियों की सहचरी देवी हैं। उनके बल पर ही हम कुछ करते हैं या चाहते हैं। इसीलिए आदर और आकांक्षा श्रद्धा के पर्याय हैं—**श्रद्धादरकांक्षायाम्** (मेदिनीकोश)।

शास्त्रकारों ने सत्कर्म के प्रति श्रद्धालु होने का सदा परामर्श दिया है। तैत्तिरीय उपनिषद् के

आचार्य ने अन्तर्वासी का अनुशासन करते हुए शिक्षोपनिषद् के ग्यारहवें अनुवाक में कहा है—

**श्रद्धयादेयम्। अश्रद्धया अदेयम्।** अर्थात्

श्रद्धापूर्वक दान करना चाहिए, अश्रद्धापूर्वक दान नहीं करना चाहिए।

महर्षि मनु ने नीच व्यक्ति के पास भी रहनेवाली पवित्र विद्या का श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने की प्रेरणा दी है—

**श्रद्धधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।**

(मनुस्मृति : २.२३८)

मनु महाराज ने श्रद्धा को इतना मूल्य दिया है कि श्रद्धापूर्वक दिए गए अग्राह्य भोजन को भी ग्राह्य बना दिया तथा सावधान होकर श्रद्धापूर्वक अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदरक्षा, अतिथि-सत्कार, वैश्वदेव-जैसे इष्टकर्म और अन्नप्रदान, बगीचा लगाना, तालाब कुआँ आदि जलस्थान एवं देवस्थान बनाना-जैसे पूर्वकर्म करने का निर्देश किया है—

**श्रद्धापूर्वं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत्।**

**श्रद्धयेष्टं च पूर्वं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।**

**श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः॥**

(मनुस्मृति : ४.२२५-२२६)

यहाँ यह भी बताया गया है कि न्यायोचित रीति से अर्जित धन श्रद्धापूर्वक इष्ट एवं पूर्व कर्म करने से मोक्षकारक होता है।

गीता में जगह-जगह इसका महत्त्व दरसाया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने तत्परता और संयत-इन्द्रियता के साथ-साथ ज्ञान प्राप्ति का आधार मानते हुए कहा है—

**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**

सत्यनारायण-व्रतकथा में देवर्षि नारद द्वारा पूजाविधान पूछे जाने पर भगवान् नारायण ने श्रद्धा और भक्ति को ही महार्घता प्रदान करते हुए कहा है—

**यस्मिन्कस्मिन्दिनेमर्त्यांभक्ति-श्रद्धा-समन्वितः।**

**सत्यनारायणं देवं यजेच्चैव निशामुखे॥**

(अध्याय : २.१६)

अर्थात् श्रद्धा और भक्ति से युक्त होकर जिस-किसी दिन शाम को सत्यनारायणजी की पूजा करें।

यहाँ श्रद्धा और भक्ति दोनों को आधार बनाया गया है। यह भक्ति भी श्रद्धा से दूर की नहीं है। यदि सूक्ष्मतया देखा जाए तो श्रद्धा का ही पर्याय होजाती है। जहाँ आचार्यों ने श्रद्धासम्प्रत्ययः स्पृहा अर्थात् अटूट विश्वास अथवा चाह ही श्रद्धा है, ऐसा कहा, वहीं सम्प्रत्ययो भक्तिरतिशयः अर्थात् अत्यधिक अटूट विश्वास ही भक्ति है, यह भी कहा।

जब किसी देवता के प्रति अत्यधिक आस्था होती है, तभी उसकी भक्ति हो पाती है। दूसरे शब्दों में श्रद्धयापरयोपेताभक्तिः अर्थात् पराश्रद्धा से युक्त शक्ति ही भक्ति है। जहाँ शास्त्रोक्तेऽर्थोऽविपरीत-बुद्धिः श्रद्धा अर्थात् शास्त्रों के बताए अर्थ के अनुसार बुद्धि रखना ही श्रद्धा है, वहीं तदनुसार आचरण करना भक्ति है— आदरणानुसरणं भक्तिः।

जैसे प्रकृति-सम्भव सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं (गीता : १४.५), वैसे ही प्राणियों के स्वभावानुकूल श्रद्धा भी तीन तरह की होती है— सात्त्विकी, राजसी और तामसी (गीता : १७.२)। इसी कारण सात्त्विक जन देवों की, राजस जन यक्ष-राक्षसों की तथा तामस जन भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं (गीता : १७.४) और श्रद्धा के वशवर्ती होने के कारण भगवान् जो भक्त जिस देवता आदि को श्रद्धा से पूजता है, उसकी भक्ति को स्थिर करते हैं तथा इच्छित फल प्रदान करते हैं (गीता : ७.२१-२२)।

भारतीय धर्मग्रन्थों में भावरूपा के अतिरिक्त कायरूपा श्रद्धा को भी स्थान दिया गया है। विष्णु पुराण के प्रथम अंश के सातवें अध्याय एवं नृसिंहपुराण के पाँचवें अध्याय के अनुसार दक्ष की चौबीस पुत्रियों में से तेरह का विवाह धर्म के साथ हुआ। ये तेरह कन्याएँ थीं— श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, मेधा, पुष्टि, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि तथा कीर्ति। ये सभी धर्म की सगिनियाँ हैं। इनके बिना धर्म नहीं रह सकता, इसीलिए इन्हें धर्म

के साथ गठबन्धन कराया गया। इनमें सबसे बड़ी श्रद्धा है, जिससे स्पष्ट होता है कि धर्म की पहली इष्टि श्रद्धा है और यही भक्ति को प्रबल बनाती है। इसी दम्पति के संयोग से काम की उत्पत्ति हुई, जो पुरुषार्थ-चतुष्टय का अंग है— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

हिन्दी साहित्य में एक सुप्रसिद्ध महाकाव्य है— जयशंकर प्रसाद-कृत कामायनी। यह कामायनी श्रद्धा का पर्याय है। प्रसादजी ने इसके आमुख में बताया है कि सायण के अनुसार श्रद्धा कामगोत्र में उत्पन्न ऋषिका है। इस आधार पर फक् (आयन) प्रत्यय के योग से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'कामायनी' शब्द का प्रयोग किया है।

एक ओर विष्णुपुराण आदि के अनुसार श्रद्धा कामकीमाता है तो दूसरी ओर कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका आदिके अनुसार कामपुत्री। इसी तरह विष्णुपुराण के अनुसार श्रद्धा धर्म की पत्नी है तो श्रीमद्भागवत के अनुसार यह श्राद्धदेव वैवश्वत मनु की पत्नी बताई गई है ऋ१.१.११३। इस वैषम्य से यही जान पड़ता कि दक्षपुत्री श्रद्धा और कामायनी श्रद्धा एक ही न होकर भिन्न हों। पुनः धर्म एवं वैवश्वत मनु भी भिन्न होंगे। या यह भी हो सकता है कि दक्ष एवं प्रसूति के संयोग से उत्पन्न श्रद्धा प्रथम दैहिक सृष्टि थी, इसलिए ऐसा नाम दिया गया हो।

यहाँ विष्णुपुराण के प्रथम अंश का पन्द्रहवाँ अध्याय भी ध्यातव्य है, जिसके अनुसार दक्ष की साठ पुत्रियाँ हुईं, जिनमें से दस धर्म के साथ, तेरह कश्यप के साथ तथा सत्ताईस चन्द्रमा के साथ ब्याही गईं।

यह वैषम्य भी सन्देह में डाल देनेवाला है कि एक ओर दक्ष की चौबीस पुत्रियाँ कही गई हैं तो दूसरी ओर साठ। यही नहीं, जहाँ दक्ष ब्रह्मा के दाहिने अँगूठे से उत्पन्न बताए गए, वहीं यहाँ प्रचेतागण एवं मारिषा के संयोग से उत्पन्न हुए बताए गए हैं। परयुगे-युगे भवन्त्येते दक्षाद्या मुनिसत्तम अर्थात् हे मुनिश्रेष्ठमैत्रेयजी! ये दक्ष

आदि विशिष्ट जन प्रत्येक युग में उत्पन्न होते हैं—  
कहकर पराशरजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि  
ब्रह्मा के पुत्र दक्ष और प्राचेतस दक्ष भिन्न हैं। अतः  
उपर्युक्त अन्तर भी युगभेद, कल्पभेद की देन हो  
सकता है।

श्रद्धा धर्म की ऐसी सहचरी व सहधर्मिणी  
है, जो उसके साथ सदैव रहती है। उसके बिना धर्म  
हो ही नहीं सकता। अगर होता है तो वह आडम्बर  
बन जाता है। इसीलिए भविष्यपुराण के ब्राह्मपर्व में  
कहा गया है—

श्रद्धापूर्वः सदा धर्मः श्रद्धामध्यान्तसंस्थितः।  
श्रद्धानिष्ठप्रतिष्ठश्च धर्मः श्रद्धा प्रकीर्तिता॥  
श्रुतिमन्त्ररसाः सूक्ष्माः प्रधानपुरुषेश्वरः।  
श्रद्धामात्रेण गृह्यन्ते न परेण न चक्षुषा॥  
कायक्लेशैर्न बहुभिर्न चैवार्थस्य राशिभिः।  
धर्मः सम्प्राप्यते सूक्ष्मः श्रद्धाहीनैः सुरैरपि॥  
श्रद्धा धर्मः परः सूक्ष्मः श्रद्धायज्ञाहुतं तपः।  
श्रद्धा मोक्षश्च स्वर्गश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत्॥  
सर्वस्वं जीवितं वापि दद्यादश्रद्धया च यः।  
नाप्नुयात्सफलं किञ्चित्तस्माच्छ्रद्धापरो भवेत्॥

(अध्याय : १८७.९-१३)

अर्थात् धर्म के पूर्व, मध्य तथा अन्त में  
श्रद्धा आवश्यक है। श्रद्धानिष्ठ ही धर्म प्रतिष्ठित है,  
इसलिए श्रद्धा को ही धर्म कहा गया है। वैदिक  
मन्त्रों के अर्थ सूक्ष्म हैं। उनमें विद्यमान प्रधान पुरुष  
परमेश्वर श्रद्धा से ही ग्रहण किए जा सकते हैं; वे  
बाह्य नेत्रों से ग्रहणीय नहीं हैं। अनेक प्रकार से  
अपने शरीर को कष्ट देकर तथा धन खर्च कर  
श्रद्धाहीन देवता भी उस वेदमय परमेश्वर को नहीं  
प्राप्त कर सकते। श्रद्धा परम सूक्ष्म धर्म है, श्रद्धा  
यज्ञ, आहुति, तप, मोक्ष, स्वर्ग तथा यह सम्पूर्ण  
जगत् भी श्रद्धा ही है। बिना श्रद्धा के अपना सर्वस्व  
या जीवन भी क्यों न दे दिया जाए; कोई लाभ  
नहीं। इसलिए श्रद्धामय होना चाहिए।

श्रद्धाशब्दकीउत्पत्तिश्रच्छब्दस्योप

—संख्यानम्इसवार्तिककेअनुसारश्रत्उपसर्ग,  
धारणार्थक 'धा' धातु एवं 'क' तथा 'टाप्' प्रत्यय  
के योग से हुआ है। श्रत्+धा= श्रद्धा धातु भी है,  
जिसका अर्थ 'भरोसा करना' है। इस तरह भरोसा  
भी श्रद्धा का ही वाचक है।

भारतीय संस्कृति के अनुरूप हिन्दी साहित्य  
के भक्तिकालीन कवियों ने अपने आराध्य के प्रति  
अत्यन्त श्रद्धा प्रदर्शित की है। ऐसे कवि सगुणधारा  
के हों या निर्गुणधारा के, ज्ञानमार्गी हों या प्रेममार्गी,  
रामाश्रयी शाखा के हों या कृष्णाश्रयी; सबको अपने  
इष्ट के प्रति अटूट विश्वास है, अटूट श्रद्धा है।  
तुलसीदासजी ने तो श्रीराम पर अपनी श्रद्धा प्रकट  
करते हुए यहाँ तक कहा है—

एक भरोसो एकबल एक आस विश्वासा।

एक राम घनश्यामहित चातक तुलसीदासा॥

यह चातकवृत्ति भी श्रद्धा की ही देन है। यह  
वृत्ति एकनिष्ठता की देन है। जब किसी एक के  
प्रति निष्ठा होगी, तभी मन स्थिर होकर श्रद्धा प्रकट  
करने देगा; इसीलिए छान्दोग्य-उपनिषद् में  
सनत्कुमारजी ने नारदजी को बताया है कि श्रद्धा के  
बिना मनुष्य मनन नहीं कर सकता और बिना निष्ठा  
के श्रद्धा नहीं हो सकती (अध्याय : ७ खण्ड  
१८-१९)।

मंगल भवन अमंगल हारी।

उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥

भगवती पार्वती के साथ भगवान् शंकर  
अपने ही रूपविशेष श्रीराम का जप करते रहते हैं  
और भगवान् शंकर तथा श्रीराम दोनों एक दूसरे की  
भक्ति में लीन भी रहते हैं। पुनः गोस्वामीजी ने गुरु  
कोभीशंकर-रूपमेंहीदेखाहै—**वन्देबोधमयं**

**नित्यंगुरुशंकर-रूपिणम्।**ऐसेमेंरामभक्तिको

शिवमय बनाने के लिए ही तथा अपनी निष्ठा को  
मजबूत नींव की ईंट देने के लिए ही गोस्वामीजी ने  
श्रद्धा तथा विश्वास के रूप में सर्वत्र विद्यमान एवं  
मंगलकर्ता पार्वती-परमेश्वर की वन्दना की है।



## हर हर महादेव

□ आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

**सती का अवतार :** जब ब्रह्मा की सृष्टि का क्रम ठीक नहीं चल पाया, तब वे उमा-महेश्वर की कृपा पाने के लिए तप करने जा बैठे। उनकी तपस्या पर प्रसन्न होकर शिव अर्धनारीश्वर (आधे पुरुष, आधे स्त्री) के रूप में आ प्रकट हुए। जब ब्रह्मा ने उनकी बहुत प्रार्थना की, तब शंकर के बाएँ भाग से महाशक्ति शिवा प्रकट हो गई। ब्रह्मा ने उनसे प्रार्थना की— “मेरी सृष्टि को ऐसी शक्ति दीजिए कि यह अपने आप बढ़ती चली जाए।”

भगवान् शंकर की उस महाशक्ति ने अपनी भौंहों के बीच से एक नारी निकाल प्रकट की और ब्रह्मा को वह नारी देते हुए कहा— “इसे तुम अपनी पत्नी बना लो। यह तुम्हारी सृष्टि बढ़ाए चलेगी।” वह नारी ब्रह्माणी के नाम से प्रसिद्ध हो गई। तब ब्रह्मा ने महाशक्ति से कहा— “अब आप भी अपने को इस सृष्टि में प्रकट कर दीजिए।” महाशक्ति ने उनकी प्रार्थना मान ली और कहा— “ठीक है, मैं दक्ष की पुत्री होकर अवतार ले लूँगी।” यह कहकर वे भगवान् शंकर के शरीर में जा समाईं।

दूसरी कथा यह है कि जब ब्रह्मा ने सन्ध्या को उत्पन्न करके उसपर चाहभरी आँखों से देखा तब भगवान् रुद्र बिगड़ खड़े हुए और बोले— “संसार के पितामह होकर तुम ऐसा ओछा काम कर रहे हो! तुम्हारी कोई वन्दना नहीं करेगा। ऐसे काम से तुम्हें लज्जा आनी चाहिए। तुम्हारे इन पुत्रों को भी धिक्कार है, जो यह अनाचार देखकर भी तुम्हें रोकते नहीं।” ब्रह्मा को धिक्कार कर रुद्र तो वहाँ से उठकर चले गए, पर ब्रह्मा पर उसका कोई

प्रभाव नहीं पड़ा। उलटे वे रुद्र से चिढ़कर मन में सोच बैठे कि ये अपने को बड़ा भारी तपस्वी लगाते हैं। मैंने भी इनका तप न डिगा दिया तो मेरा नाम ब्रह्मा नहीं।

ब्रह्मा ने अपने पुत्रों को बुलाकर कहा— “तुम्हारे देखते-देखते महादेव मुझे और तुम सबको इतना बुरा-भला कह गए हैं, इसलिए तुम सब ऐसा उपाय करो कि वे विवाह करके गृहस्थ बन जाएँ। तभी मेरा जी ठंडा हो पाएगा।” ब्रह्मा ने झट कामदेव को स्मरण करके बुला भेजा और कहा— “देखो! जैसे भी हो शिव को मोह में ले जा डालना होगा।”

कामदेव ने उनसे कहा— “यह कौन बड़ी बात है? यह तो मेरे बाएँ हाथ का खेल है। पर आप कोई ऐसी स्त्री तो पहले बना खड़ी कीजिए, जो शिवजी के योग्य हो। फिर मैं सब देख लूँगा।” कुछ देर तो ब्रह्मा सोचते रहे। फिर उन्होंने अपनी साँस से वसन्त को ला प्रकट किया। कामदेव ने उसे अपना साथी बना लिया। ब्रह्मा ने कामदेव से कहा— “तू पहले महादेवजी के मन में कामभावना तो उत्पन्न करो, तब तक मैं कोई स्त्री भी बना धरूँगा।”

कामदेव अपने साथ वसन्त को लेकर कैलास जा पहुँचा। वहाँ उसने बहुत हाथ-पैर मारे, पर शिव टस-से-मस नहीं हुए। वे समाधि लगाए ज्यों-के-त्यों बैठे रहे। वे समाधि से जगे भी, पर कामदेव का इतना साहस न हुआ कि उनके मन को डिगा सके।

वह हताश होकर ब्रह्मा के पास लौट आया। उसे देखकर ब्रह्मा ने ‘मार’ नाम के बहुत से गण उत्पन्न करके कामदेव के साथ कर दिए। इतना होने

पर भी महादेव को कामदेव नहीं डिगा पाया, नहीं ही डिगा पाया। उनका मन डिगा पाना क्या कोई हँसी-ठट्टा था?

तब ब्रह्मा ने जाकर विष्णु की बड़ी स्तुति की और उनके प्रकट होने पर कहा— “मेरा पुत्र होकर भी रुद्र ने मेरा बड़ा अपमान किया है। मेरे जी की यह जलन मिट नहीं पा रही है।” विष्णु ने समझाया— “देखो, वे तो सबके स्वामी हैं। उनसे उलझना ठीक नहीं। वे तुम्हारी भौंहों से प्रकट हो गए यही क्या उनकी कम कृपा है।” ब्रह्मा ने कहा— “मैं बस इतना ही चाहता हूँ कि वे विवाह करके गृहस्थ बन जाएँ।” विष्णु ने सुझाव दिया— “तो तुम उनकी महाशक्ति से ही प्रार्थना करो। यदि वे किसी की कन्या बन जाएँ तो शिव उनसे अवश्य विवाह कर लेंगे।”

ब्रह्मा ने जब महाशक्ति दुर्गा का ध्यान किया, तब वे आ प्रकट हुईं। ब्रह्मा ने हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना की— “आपके स्वामी रुद्र कैलास पर बैठे तप कर रहे हैं। आप यदि कोई उपाय कीजिए कि आप उनकी भार्या बनकर उन्हें सुखी कर दें। आपने दक्ष की पुत्री होने का मुझे वर भी दे रखा है, इसलिए न हो तो उसे ही पूर्ण कर डालिए।”

महाशक्ति ने स्वीकार करके कहा— “ठीक है, मैं दक्ष की पत्नी के यहाँ प्रकट हो जाऊँगी और मुझे विश्वास है कि भगवान् शंकर मुझे स्वीकार भी कर लेंगे। अब आप दक्ष को जाकर प्रेरित कीजिए कि वे अपने को महाशक्ति के पिता बनने के योग्य बनाएँ।”

ब्रह्मा की बात सुनकर दक्ष ने क्षीरसागर के उत्तरी तट पर महाशक्ति में ध्यान लगाकर तप छेड़ दिया। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर महाशक्ति ने उन्हें वर दिया— “मैं आपके यहाँ प्रकट तो हो जाऊँगी, पर यदि कहीं आपने मेरा अनादर किया तो मैं तभी शरीर भी त्याग दूँगी।”

समय आने पर दक्ष की पांचजन्म असिकनी नामक पत्नी से ३० कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जिनमें शिवा (सती) भी थीं। वे जैसे-जैसे बड़ी होती जा रही थीं, वैसे-वैसे वे शिवजी की मिट्टी की मूर्ति बना-बनाकर उनका पूजन किया करती जा रही थीं। ये सती ही शिव की प्रथम पत्नी हुईं।

ब्रह्मपुराण के अनुसार जब ब्रह्मा सृष्टि की रचना कर रहे थे, तब उन्होंने एक दिन ऐसी भौंहें तानीं कि उनकी भौंहों के बीच से महारुद्र आ प्रकट हुए। तभी ब्रह्मा ने अपने शरीर से एक परम सुन्दरी कन्या गौरी उत्पन्न करके रुद्र को पत्नी बनाने के लिए दे दी, साथ ही यह भी कहा— “अब तुम जाकर प्रजा की सृष्टि करो।” रुद्र ने सोचा कि यह काम बिना तपस्या के तो हो नहीं सकता। यहाँ तक कि ब्रह्मा के शरीर से जो कन्या उत्पन्न हुई थी, उसकी ओर भी उन्होंने देखा तक नहीं। यह देखकर ब्रह्मा ने उस कन्या को फिर अपने में ही समा लिया। फिर अपने दाहिने अँगूठे से उत्पन्न होनेवाले दक्ष को वह पुत्री देते हुए उन्होंने कहा— “यह लो, यह गौरी तुम्हें दिए दे रहा हूँ। यह तुम्हारी पुत्री होगी। इसका विवाह रुद्र से करना है। जब तक वे तप कर रहे हैं, तब तक तुम इसका पालन किया करते रहो।”

वाराहपुराण के अनुसार सदाशिव ने सबसे पहले चार भुजाओंवाले ब्रह्मा को उत्पन्न करके उन्हें पढ़ाया। ब्रह्मा ने शिव से प्रार्थना की कि आप अपनी इस संसारमयी मूर्ति का विस्तार कर डालिए। ब्रह्मा की प्रार्थना मानकर शिव ने अपने बाएँ अंग से एक स्त्री उत्पन्न की। वही उनकी कल्याणमयी पत्नी श्रद्धा थी। महेश्वर की आज्ञा से वे जाकर दक्ष की कन्या हुईं, जहाँ उनका नाम सती पड़ा।

**शिव से सती का विवाह :** शिवपुराण की रुद्रसंहिता के सतीखण्ड के अनुसार स्वायंभुव मन्वन्तर में ब्रह्मा के साथ नारद सीधे दक्ष के यहाँ जा पधारे और उनसे बोले कि अब तुम अपनी सती से कहो



कि वह शिव को पतिरूप में प्राप्त करने के लिए तपस्या जा करे।

उनके चले जाने के पश्चात् अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर सती ने घर में ही आश्विन शुक्ला प्रतिपादा से तपस्या प्रारम्भ कर दी। इस तपस्या के साथ-साथ वे विभिन्न मासों में विभिन्न प्रकार के पदार्थों से शिव की पूजा करके प्रसाद ग्रहण करती रहीं।

सती की यह कठोर तपस्या देखकर सब देवता अपने साथ विष्णु और ब्रह्मा को लेकर शिव के यहाँ जा पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने शिव से निवेदन किया कि आप यदि सदा ऐसे ही तप करते रह जाएँगे तब तो यह सृष्टि चल चुकी! इसलिए अपनी पत्नी के रूप में किसी भी देवी को आप स्वीकार कर लीजिए।

बहुत कहने-सुनने पर शंकर ने कहा— “मुझे इसमें कोई रुचि तो है नहीं फिर भी आप लोग कहते हैं तो मैं माने लेता हूँ। पर मेरे लिए कोई ऐसी देवी ढूँढनी पड़ेगी, जो मेरा तेज ग्रहण कर सके और जैसी दशा में मैं रहूँ वैसी ही दशा में रहे। साथ ही यह भी समझ लीजिए कि जहाँ उसने मेरी बात का अविश्वास किया कि मैंने उसे छोड़ा।” ब्रह्मा और विष्णु की बाछें खिल गईं। उन्होंने सती का और उनकी तपस्या का झट सारा परिचय दे डाला। शिव ने स्वीकार कर लिया।

आश्विन शुक्ला अष्टमी को व्रत करके सती ने शिव की पूजा करके रात्रि-जागरण किया। नवमी के दिन वे ध्यान लगाए बैठी ही थीं कि अचानक भगवान् शंकर उनके सम्मुख आ प्रकट हुए। उन्हें देखते ही सती प्रसन्न भी हो उठीं, पर साथ ही लाज से प्रणाम करने के लिए झुक भी गईं। शंकर ने मुसकराकर कहा— “माँगो, क्या माँगती हो?” सती ने नम्रतापूर्वक कहा— “आप जो चाहें, वर दे डालिए।” शिव ने प्रस्ताव किया— “तुम मेरी पत्नी

हो जाओ।” सती को तो यही चाहिए ही था। वे प्रसन्न होकर बोलीं— “आपकी आज्ञा सिर-माथे। आप विवाह की विधि से मुझे ग्रहण कर लीजिए।”

भगवान् शंकर के वरदान की बात सुनकर दक्ष प्रसन्न हो उठे और ब्रह्मा के कहने से दक्ष ने सती का विवाह शंकर से करने का निश्चय कर लिया। चैत्र शुक्ल त्रयोदशी, रविवार को पूर्वा-फाल्गुनी नक्षत्र में ब्रह्मा ने शिव और पार्वती का विवाह करा दिया। उसी समय भगवान् विष्णु ने उनसे प्रार्थना की— “मेरा निवेदन है कि जो भी सती पर कुदृष्टि डाले, आप उसका वध कर दें।”

ठीक विवाह के समय सती का सौन्दर्य देखकर ब्रह्मा उनपर रीझ उठे। यह देखकर तो भगवान् शंकर की भौहें तन गईं और उन्होंने ब्रह्मा पर त्रिशूल तानकर कहा— “तुमने विवाह-मण्डप में अपनी पौत्री और मेरी पत्नी पर कुदृष्टि डाली है; तुम्हें छोड़ूँगा नहीं।” यह सुनकर तो सब देवता हाहाकार कर उठे। दक्ष ने भी हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना की कि मेरे पिताजी को क्षमा कर दीजिए। किसी-किसी प्रकार विष्णु ने उन्हें शान्त किया। ब्रह्मा ने पूछा— “मैं अपने इस पाप का प्रायश्चित्त कैसे करूँ?” शिव ने कहा— “तुम मेरे इस रुद्र-स्वरूप का ध्यान करते हुए जाकर तप करो।” तभी से ब्रह्मा का एक मुख तीन नेत्रवाला हो गया, जिसे ब्रह्मा का रुद्र-शिर कहते हैं।

विवाह सम्पन्न हो चुकने पर भगवान् शंकर ने ब्रह्मा से कहा— “तुमने जो विवाह कराया है, उसकी जो भी दक्षिणा चाहो माँग लो।” ब्रह्मा ने प्रार्थना की कि बस आप यहाँ हिमालय पर सदा इसी रूप में निवास करते रहिए, यही चाहता हूँ। शिव ने स्वीकार कर लिया और वे सती को साथ लिए कैलास पर चले आए।



## अवतार भौ अवतार

□ डा० युगेश्वर

सामान्य धारणा दस और चौबीस अवतारों की है। किन्तु हरिवंश पुराण विष्णु के हजारों अवतार कहता है। हजारों अवतार हो चुके हैं। भविष्य में भी बार-बार होते रहेंगे।

**प्रादुर्भावसहस्राणि अतीतानि न संशयः।**

**भूयश्चैव भविष्यन्तीत्येवमाह प्रजापतिः।।**

(हरिवंश, हरिवंश पर्व : ४१.११)

भागवत भी भगवान् के असंख्य अवतार मानता है— **अवतारा ह्यसंख्येया : (१.३.२६)**। द्रौपदी की लज्जा बचाने में वे वस्रावतार हो गए। तभी तो वस्त्र खींचते दुर्योधन थक गया, किन्तु वस्त्र बढ़ता गया। द्रौपदी की लाज बची। कुछ ऐसी ही बात तुलसीदास कहते हैं— **राम जन्म के हेतु अनेका।**

अनेक जन्मों के अनेक कारण। सृष्टिकारण भगवान् हैं। सृष्टि अनादि है। भगवान् उससे भी अनादि हैं। जन्मकारण भी अनेक हैं। अतः अवतार की गणना सम्भव नहीं। गणना मानवी सीमा है। भगवान् भक्त के लिए 'लीलाशरीर' धारण करते हैं। लीलाशरीर का अर्थ है सृष्टि के जीवों के शरीर से भिन्न शरीर। जीवसृष्टि स्वनिर्मित नहीं है। लीलाशरीर स्वनिर्मित है। भगवान् कहते हैं— मैं ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन कर स्व (आत्म) माया अर्थात् योगमाया से प्रकट होता हूँ। ... अपने को सृजित करता हूँ। (गीता : ४, ६, ७-८) यही है 'लीलाशरीर'-धारण।

जीव का शरीर पराश्रित है। भगवान् का शरीर स्वाश्रित है। सम्पूर्ण दृश्य, अदृश्य भगवान्

के आश्रित हैं। मूल हैं भगवान्। शेष सब उनके द्वारा उत्पन्न हैं। प्रकृति भी उनकी है। कोई भी रचना साधन चाहती है। प्रकृति भगवान् का साधन है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है— **'इच्छामय नरवेष संवारे। होइहउं प्रगट निकेत तुम्हारे।।'** इच्छा से नरवेष बनाएँगे। बनाकर प्रगट होंगे। जैसे आग प्रगट होती है। बिजली में अग्नि स्फूर्त, पत्थर की टाँकी में आविर्भूत, लोहे में प्रवेश एवं पानी में आवेश होता है। पानी से कमल प्रगट होता है। उसी प्रकार जगत्-जल से परमात्मा प्रगट होते हैं।

अवतार का सामान्य अर्थ है उतरना। परमात्मा उतरते हैं। सब के बीच आना। सातवें आसमान से नहीं। परमात्मा तो सर्वत्र हैं— **हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।।** अवतार के लिए प्रगट शब्द अधिक ठीक है। गोस्वामीजी अवतार की अपेक्षा प्रगट शब्द का अधिक प्रयोग करते हैं।

अवतार का एक और अर्थ है— स्वच्छ मन, चित्त, बुद्धि में परमात्मा स्थापित होते हैं; स्थान बनाते हैं। बाहर फैले शीत, ताप वस्तु में प्रवेश या अवतरित होकर उसे भी सर्द, गर्म कर देते हैं। भगवान् हमारे भीतर हैं। वे हृदय की अनुकूलता या आवश्यकता प्राप्त कर प्रगट हो जाते हैं।

ऋषि, मुनि, सन्त, महात्मा में भगवान् का अवतरण देखा जाता है। कभी यह अवतरण जन्म के पूर्व और कभी जन्म के बाद की तपःसाधना से होता है। इसी से अवतारों के अनेक प्रकार हैं। सर्वप्रथम तो यह सृष्टि ही अवतार है। भगवान् विष्णु की नाभि से कमल उत्पन्न हुआ। कमल

पौष्कर अवतार है। इसी कमल से स्रष्टा ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई— **एष पौष्करो नाम प्रादुर्भावो महात्मनः** (हरिवंश, हरिवंशपर्व : ४१-२७)।

अवतारों की सामान्य गणना में पौष्कर की गणना नहीं होती है। व्यास भी कृष्ण कहे जाते हैं।... भगवान् ने धर्म की रक्षा के लिए महर्षि पराशर द्वारा सत्यवती के गर्भ से अपने अंशांश कलारूप व्यास के रूप में अवतार ग्रहण किया है (भागवत : १२.६.४६)। व्यास को वेदान्त का आचार्य कहना चाहिए। सांख्य के आचार्य कपिल हैं। कपिल भी भगवान् के अवतार हैं (भागवत ३.२४.१६, मानस : १.४२.६)। ऋषभदेव भी भगवान् के अवतार हैं। रुचि प्रजापति की पत्नी आकृति के गर्भ से सुयज्ञ के रूप में अवतार ग्रहण किया। अत्रि के पुत्र दत्तात्रेय बने। सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार भी भगवान् के अवतार हैं। पृथु भी भगवान् के अवतार थे। हयग्रीव, मत्स्य, कच्छप आदि अवतारों का उल्लेख है।

सम्पूर्ण संसार (सृष्टि) भगवान् का अवतार है। भगवान् अपने अवतार में अवतार लेते हैं। सूर कहते हैं— **आपु आपु सँ खेलै**। भगवान् के अतिरिक्त और कौन है, जिसके साथ भागवत क्रीडा होगी। राधा कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है। राधा-कृष्ण एक के दो रूप हैं। भिन्नता न दिखाई दे तो क्रीडा सम्भव नहीं। भगवान् गोपियों के साथ वैसे ही रमण करते हैं, जैसे बालक अपने प्रतिबिम्ब से खेलते हैं। **रेमे रमेशो ब्रजसुन्दरीर्भयार्थार्थकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः** (भागवत : १०.३३.१७)।

भगवान् आत्माराम हैं। आत्माराम अपने में मस्त हैं। उन्हें अपने से अतिरिक्त और कोई सहारे की आवश्यकता नहीं है। भगवान् दूसरे को क्रीडा (लीला) का सहायक बनाते हैं। इसलिए कि दूसरा कौन है? दूसरा भी भागवत है। भगवान् का है। भगवान् में है। गोपियाँ (जीव) अनेक हैं। भगवान्

एक हैं। भगवान् ने सभी गोपियों को आनन्द देने के लिए जितनी गोपी, उतने रूप बनाए। एक ही देश, काल में सभी गोपियों के साथ रमण करने लगे। जितनी गोपी उतने ही रूप बनाए— **कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः** (भागवत : १०.३३.२०)। सभी गोपियाँ भगवान् को अपने साथ देख रही थीं। यह भी एक प्रकार का अवतार है।

सभी नाम-रूपों, देश-पात्रों में भगवान् हैं। जो जैसा है, उसके साथ वैसा हैं। समदर्शी का लक्षण बताते भगवान् कहते हैं— विद्या, विनय-युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते तथा चाण्डाल में सम देखना समदर्शी ज्ञानी का लक्षण है (गीता : ५.१८)। इस समदर्शित में, सबमें भगवान् को देखना है। सबमें भगवान् हैं। सब भगवान् में हैं। अवतार तो भगवान् की छाया (प्रतिबिम्ब) मात्र है। छाया में कुछ जाता नहीं। कुछ गए बिना एक रूप बन जाता है। ऐसे ही भगवान् की पूर्णता बनी रहती है। फिर भी सम्पूर्ण सृष्टि दिखाई पड़ती है। गहना बनाने में सोना रहता है। सोना का घटे बिना तरह-तरह के आकार बन जाते हैं। एक से अनेक बनना भी अवतार है। प्रसिद्ध उक्ति है— **एकोऽहं बहु स्याम**। एक परमात्मा और अनेक जगत् है। प्रलय में अनेक पुनः एक बन जाता है।

भगवान् अव्यक्त हैं। अव्यक्त का व्यक्त होना, व्यक्ति बनना प्रथम अवतार है। सन्त द्वितीय अवतार हैं। दुष्ट पुरुष भी एक प्रकार के अवतार हैं। इसी से कभी-कभी राम के साथ रावण को अवतार कहा गया है। मरते ही रावण का तेज प्रभु-आनन (मुख) में समा गया। रावण में भी राम की ही शक्ति थी। अतः शरीर के नष्ट होते ही शक्ति जहाँ से आई थी, वहाँ चली गई। शिशुपाल के साथ भी यही हुआ। 'शिशुपाल के शरीर से एक ज्योति निकलकर भगवान् कृष्ण में समा गई— **चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत्** (भागवत : १०.७४.४५)।

लोग तरह-तरह से भगवान् का भजन करते हैं। मुख्यतः प्रेम से। क्योंकि प्रेम ही असली पुरुषार्थ है। किन्तु कभी-कभी प्रेम करने की सामर्थ्य के अभाव में वैर भाव से भी भगवान् का स्मरण करते हुए भगवन्मय हो जाते हैं। रावण, शिशुपाल आदि भगवान् के वैरभाव के भक्त थे। शिशुपाल के अन्तःकरण में लगातार तीन जन्म से वैरभाव की अभिवृद्धि हो रही थी। रावण भी राम का वैरभाव का भक्त है। रावण का कथन है— ... **जौं भगवन्त लीन्ह अवतारा। तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ।। होइहि भजनु न तामस देहा** (मानस : ३.२३)।

भगवान् सब देश-काल में हैं। अतः प्रतिक्षण अपने में भगवान् की उपस्थिति का अवतरण करना है। हवा है, फिर भी गर्मी है। पंखा चलते ही गर्मी दूर हो जाती है। प्रतिक्षण भगवान् की अनुभूति का पंखा चलाओ। त्रिताप से मुक्ति पाओ।

लोक-विश्वास के अनुसार अवतार लोकरक्षा के लिए होता है। अतः अवतारों में कुछ विशिष्टताएँ होती हैं। वे दुखियों की प्रार्थना पर धरती पर आते हैं। आवश्यक, उपयोगी, सहयोगी लेकर आते हैं। कुछ करिश्मा करते हैं। समाजशास्त्री इन्हें कैरैश्मेटिक नेतृत्व कहते हैं। अवतार कहने में उनका धर्म बिगड़ता है। समझ की भी सीमा है। भगवान् राम के लोकरक्षक रूप की चर्चा है। उन्होंने रावण के अन्याय से लोगों को मुक्त किया। रावण धर्मनाशक था। देवभाव को नष्ट कर असुर भाव का विस्तारक था। ऐसा ही कंस था। असुरभाव का संचारक।

असुर एवं सुरभाव का सम्बन्ध देश-काल से भी है। कभी किसी देश-काल में असुरभाव प्रबल होता है, तब सुरभाव दब जाता है। फिर सुरभाव प्रबल होकर असुरभाव को परास्त करता है। इसी से भगवान् अकेले नहीं आते हैं। गीता के **यदा यदा, तदा तदा** और गोस्वामीजी के **जब-जब, तब-तब** में काल का स्पष्ट बोध है।

पृथ्वी देश है। हरिवंश पुराण में पृथ्वी और काल दोनों ब्रह्माजी के पास आए थे। दोनों ही अन्यायी राजाओं से पीड़ित थे— **पृथिवी सह कालेन वधाय पृथिवीक्षिताम् हरिवंश, हरिवंश पर्व : ६६**)।

धर्मस्थापना और दुष्टदलन के अतिरिक्त भी अवतार के उद्देश्य हैं। संसार ही क्यों? तीनों लोकों में भगवान् का कोई कर्म नहीं है। कर्मों से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं है। फिर भी वे कर्म करते हैं। उन्हें करते देखकर लोग कर्म करते हैं। वे न करें तो लोग भी कर्म छोड़ दें। तब तो संसार का नाश हो जाएगा। भारी अव्यवस्था फैल जाएगी। कर्मों का ज्ञान कराना भी अवतार का उद्देश्य है। राम के त्याग को देख भरत राम से अधिक त्यागी हैं। राम ने अयोध्या की गद्दी, माता की इच्छा, पिता की आज्ञा से छोड़ी। किन्तु भरत ने उसे स्वेच्छा से छोड़ा। राम भरत के आदर्श हैं। भरत लोक के आदर्श बने। भाई हो तो भरत-जैसा।

गोकुल, मथुरा और द्वारका के कृष्ण लौकिक जीवन जीते, लोकरक्षा करते हैं। तीनों स्थानों में प्रेमपात्र भी हैं। दुष्टदलन पात्र भी हैं। 'भगवान् का मानव-अवतार केवल रक्षा के लिए नहीं, शिक्षा के लिए भी हैं— **मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्याशिक्षणं, रक्षोवधायैव न केवलं विभोः** (भागवत : ५.१६.५)। वंशी भी बजाते हैं। सुदर्शन चक्र से भी काम लेते हैं। सूतकर्म करते हुए गीता का महान् उपदेश देते हैं। द्रौपदी के स्वयंवर में भाग नहीं लेते हैं। किन्तु रुक्मिणी का अपहरण करते हैं। गाय चराते हैं। महारास करते हैं। शक्ति और सौन्दर्य दोनों ही भगवान् की विभूतियाँ हैं। राक्षसों को भी राम में सुन्दरता दिखाई देती है। भगवान् सच्चिदानन्द हैं।

सत्, चित् तो जीव की सामान्य स्थिति है। आनन्द भगवान् का अनुग्रह है। भगवान् और भगवान् के भक्त का एक स्वभाव है। दोनों ही कारण-रहित

उपकारी हैं। भगवान् अपने जग का उपकार करते हैं। भक्त अपने प्रभु के जग का उपकार करता है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी।  
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।।

(मानस : ७.४७.३)।

असुरों का विनाश भी उपकार है। आसुरी भाव से असुर की भी मुक्ति होती है।

महाभारत कृष्णकथा है। कृष्ण का एक नाम 'जय' है। महाभारत का आदि नाम जयकथा है। विस्तार के कारण ही महाभारत (जयकथा) के अध्ययन-सम्बन्धी अनेक लोकप्रवाद हैं। इतना ही नहीं; राम और कृष्णचरित में मर्यादा का अर्थ शिष्ट आचरण मान लिया गया है। इस अर्थ के अनुसार कृष्णचरित अमर्यादित हो जाता है। भला भगवान् ही अमर्यादित हों तो जगत् कैसे मर्यादित रहेगा? भगवान् की लीला ज्ञान से ही ज्ञात होती है। ज्ञान में श्रद्धा एवं वैराग्य का योग हो। भगवान् शंकर सती के साथ हैं। कुछ उन्हें योगी मानना नहीं चाहते। ऐसे लोग नासमझ हैं— सती के साथ रहते देखकर जो आपको (शिव को) आसक्त एवं श्मशानवासी होने के कारण उग्र या निष्ठुर बताते हैं— वे मूर्ख आपकी लीलाओं का रहस्य भला क्या जानें (भागवत : ८.७.३३)। यही बात कृष्णादि अवतारों पर भी लागू होती है।

अवतार के दो भेद भी हैं— पूर्णावतार एवं अंशावतार। २४ अवतार पूर्णावतार हैं, शेष अवतार अंश या कलावतार हैं। पूर्णावतार में भी भगवान् सीमित नहीं होते। वे सर्वत्र रहकर पूर्ण हैं। एक जगह रहकर भी पूर्ण हैं। वे कभी अंश नहीं, सब देश-काल में अंशी हैं। अंश देने का अर्थ है परमात्मा की पूर्णता की प्राप्ति न होकर उनका विभूतियुक्त होना। गीता में भगवान् ने अपनी अनेक विभूतियों का उल्लेख किया है। वहीं अर्जुन को अपना विराट् रूप भी दिखाया है।

व्यष्टि और समष्टि दोनों ही भगवान् हैं। पूर्णावतार को अवतार न कहकर, अवतारी कहा गया है। अवतारी अवतार भी कराता है। वह पूर्ण सामर्थ्यवाला है। भागवत टीका (गोरखपुर) में कृष्ण के चार अंशावतारों का उल्लेख है— केश का, सुतपा तथा पृश्नि पर कृपा-अवतार। तीसरा संकर्षण बलराम। चौथा परब्रह्म। पाँचवे अवतार साक्षात् भगवान् वासुदेव हैं। कुछ लोग हंस-हयग्रीव को अतिरिक्त अवतार मानते हैं।

अवतार में भी भगवान् सबसे विशिष्ट रहते हैं। उनमें अनेक शक्तियाँ होती हैं। यही कारण है कि अलग-अलग लोग उन्हें अलग-अलग देखते हैं। धनुषयज्ञ के लिए आए राम को देखें—

जिन्हकें रही भावना जैसी।

प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी।।

वीरों ने वीर, कुटिल राजाओं ने भयकारक, असुरों ने काल, जनक-पुरवासियों ने नरभूषण, स्त्रियों ने शृंगारमूर्ति तथा विद्वानों ने विराट् रूप देखा। इस रूप में अनेक मुख, हाथ, पैर, शीश, आँखें हैं। जनक-परिवार ने राम को सम्बन्धी, रानियों ने बालक, योगियों ने परमतत्त्व, हरिभक्तों ने इष्टदेव तथा देवी सीता ने स्नेही के रूप में देखा। संसार में भी हमारा अनेक-से-अनेक सम्बन्ध हैं। हम सबको अलग-अलग देखते हैं। हमें सब अपने सम्बन्धों से भिन्न-भिन्न देखते हैं।

अवतार एक भरोसा है, आधार है कि अन्याय का नाश अवश्य होगा। अनाचार दूर करने के लिए भगवान् अवतार लेंगे। किन्तु अवतार की निर्भरता ठीक नहीं। अवतार तभी होगा, जब हम अवतार के योग्य बनें। स्वयं अवतार बनें। विषय से मुक्त होकर सत् को ग्रहण करना हमारे भीतर-बाहर का आचरणगत अवतार है। यह अवतार नित्य हो। फिर तो रावण-जैसों का अवतरण भी सम्भव नहीं है। अन्याय, अनाचार की जिम्मेदारी प्रत्येक व्यक्ति को लेनी है। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

जो अपराध भगत कर करई।

राम रोष पावक सो जरई।।

(मानस : २.२१८.३)

इसके दो अर्थ हैं— १. भक्त को भगवान् का भरोसा करना चाहिए। उसे स्वयं बदला नहीं लेना चाहिए। बदला लेने में स्वयं अपराधी बनते देखा गया है। बदला लेने में स्वधर्म बदल जाता है। २. भगवान् स्वयं भक्त का ध्यान रखते हैं। स्वयं बदला लेने में भगवान् का सहयोग सम्भव नहीं। बिना भगवान् के सहयोग के बदला सम्भव नहीं है।

ऋषियों की ओर से बदला लिया भगवान् राम ने। भगवान् का अवतार न अकस्मात् होता है और न बिना प्रार्थना, पवित्रता के होता है। अतिथि आनेवाला है। साफ घर को और साफ कीजिए। सफाई का स्वभाव बना लीजिए। न जाने कब अतिथि आ जाए। अतिथि का अर्थ है, जो बिना तिथि दिए आ जाए।

समुद्र मन्थन के बाद भगवान् ने मोहिनी रूप बनाया था। पंच बने कृष्ण ने दुर्योधन को भयकारक रूप दिखाया था। अपने विराट् रूप से अर्जुन, माता कौसल्या एवं यशोदा में विस्मय पैदा किया था। अर्जुन ने पूरा देखा था। अतः भयभीत हुआ। माताएँ विस्मय तक सीमित रहीं। ये भी एक अवतार-प्रकार हैं। किन्तु क्षणिक हैं। जैसे किसी को अत्यन्त क्रुद्ध देख उसे क्रोधमूर्ति या क्रोध का अवतार कहते हैं। किन्तु सामान्य अवतार में मोहिनी या विराट् रूप की गणना नहीं है। इन रूपों की तात्कालिक आवश्यकता थी। इसी से ये रूप तत्काल बदल गए। मोहिनी रूप का अर्थ है मोह उत्पन्न करनेवाला रूप। भगवान् के मोहिनी रूप को देख असुर मोहित हो गए थे। महाभारत में कर्ण कृष्ण के मोहन रूप से प्रभावित रहता था।

अप्रमेये हृषीकेशे युद्धकालेऽप्यमुह्यत।

(महाभारत, द्रोणपर्व : १८२.२८)

कृष्ण ने मोहवाला यह रूप बनाया था। यह स्वाभाविक रूप नहीं था। स्वाभाविक होता तो दुर्योधन भी मोहित होता। किन्तु वह तो कृष्ण को गिरफ्तार करना चाहता है।

सब का सृजन भगवान् या उनके द्वारा स्थापित प्रकृति करती है। एक प्रकृति तीन गुणोंवाली है। सत्त्व, रज, तम तीन गुण। यह प्रकृति भगवान् की होकर भी भगवान् को रचने की सामर्थ्य नहीं रखती है। यह गुणोंवाले संसार की रचना करती है। भगवान् को कोई रचना नहीं है। भगवान् स्वयं अपना सृजन करते हैं।

भगवान् प्रकृति से परे हैं। इससे कोई गुण उन्हें प्रभावित करने में असमर्थ है। गुण का अर्थ है रस्सी। सारी सृष्टि इस रस्सी में बँधी है। इसी से जीव की एक संज्ञा पशु है। सभी जीव पाश (बन्धन) में बँधे हैं। प्रकृति अर्थात् माया सबको बाँधे है। भगवान् का आत्मसृजन है। स्वच्छया सृजन है। अतः वे पशु न होकर पशुपति हैं।

भगवान् द्वारा अपना सृजन होता है। यह विशेष ढंग का, विशेष अवसर का सृजन है। ढंग है स्वमायया अर्थात् अपनी योगमया से अपने को मानव या किसी जीव के रूप में व्यक्त करना। अधिष्ठाय का अर्थ है बिना किसी स्खलन के। अपने अधिष्ठान पर रहते हुए सृजन। प्रत्येक सृजन कुछ घटाता बढ़ाता है। किन्तु भागवान् द्वारा अपने से अपना सृजन घट-बढ़वाला नहीं है। भगवान् बिना घटे बढ़े संसार के बीच प्रगट हो आते हैं। यह सृजन प्रकृति के गुणों से मुक्त रहने के कारण सांसारिक दुःख-सुख से परे है। इसके कार्य भी सांसारिक कार्यों से भिन्न हैं।

बाह्यतः भगवान् भी संसारी-जैसा करते हैं, किन्तु आकांक्षा और स्वलाभ से मुक्त रहते हैं। सब कुछ दूसरों के लिए करते हैं। सभी प्रकार की लीलाओं का उद्देश्य दूसरों को सुख, आनन्द देना

हैं। इसे ही तत्सुख-सुखिता कहना चाहिए। आनन्द देने में ही आनन्द है। भगवान् में आनन्द से आनन्द की यात्रा है। आत्मसृजन केवल भगवान् की सामर्थ्य है; क्योंकि सृजन करने के करण और कारण सब उनके पास हैं। मनुष्य तो स्वयं करण है, निमित्त है। वह कर्ता नहीं हो सकता है। अतः वह फल का भी निश्चित अधिकारी नहीं है। कर्ता, फलदाता प्रभु हैं। निमित्त को अधिकार नहीं। वह केवल कर्म करे। कर्म तो करना ही होगा। जीव की उत्पत्ति, स्थिति आदि सब कर्माधीन हैं। फल के अधिकारी भी प्रभु हैं, किन्तु वे फल क्या करेंगे? फल उनके लिए व्यर्थ है। अतः फल निमित्त को दे देते हैं। जिसको कर्म का माध्यम बनाया, उसे मजदूरी देकर कृतार्थ करते हैं।

भगवान् अपना सृजन धर्मग्लानि और साधु पुरुषों के दुःख के अवसर पर करते हैं। अधर्म एवं अधर्मी का नाश कर धर्म का उत्थान करते हैं। अधर्मी से दबाए गए धर्म का उद्धार करते हैं। धर्मी की सहायता करते हैं।

धर्म प्रथम पुरुषार्थ है। भगवान् प्रथम पुरुषार्थ 'धर्म' को नष्ट होने से बचाते हैं। परमात्मा निर्द्वन्द्व हैं। जीव द्वन्द्व में है। माया के तरह-तरह के द्वन्द्व हैं। ब्रह्म और माया का भी द्वन्द्व है। माया में सुख-दुःख के द्वन्द्व हैं। मन कभी भगवान् की ओर जाना चाहता है, किन्तु शीघ्र ही माया में फँस जाता है। द्वन्द्व कैसा भी हो, वह है वह दुःखात्मक, विनाश-कारक।

भगवान् सभी प्रकार के द्वन्द्वों से मुक्त हैं। सीता के वियोग में आँसू गिराते हैं, लोक-शिक्षा के लिए। वानर-भालू की सहायता भी लोक-शिक्षा है, वरना वे सुख-दुःख से मुक्त हैं—

प्रभु सक त्रिभुअन मारि जिआई।

केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई।।

लंका युद्ध में मारे गए सभी वानर-भालू प्रभु की इच्छा से जी गए।

भगवान् को द्वन्द्व क्यों नहीं है? वे भी तो मानवदेह में हैं? इसका कारण है कि उनकी मानवदेह विशिष्ट है। वह भोग के लिए निर्मित नहीं है। वे लोकहित संसार में आए हैं। पुनः लौटना है। भगवान् के जन्म और कर्म दिव्य हैं। दिव्य माया का स्वामी है। वह दूसरों का बन्ध, मोक्षप्रद है। जेलर जेल में रहकर भी कैदी नहीं है। भगवान् संसार में रहकर भी संसारी नहीं हैं। उनका जन्म, मरण नहीं होता है। वे प्रगट होते हैं, लुप्त होते हैं।

'मानस' में राम की मृत्युकथा नहीं है। राम मरे नहीं, स्वधाम लौट गए। इसी संसार में बालक, किशोर रूप में रहे। कभी वृद्ध नहीं हुए। बालक रहते भी बलवान् थे। अधिकतर लीलाएँ बाल्यावस्था की हैं। शेष किशोरावस्था की।

गीता ने भगवान् की देह को दिव्य कहा है। 'मानस' में 'चिदानन्दमय देह' तुम्हारी कहा गया है। यह देह विगत विकार-सहित है। 'विगत विकार' के दो संकेत हैं। मानवदेह में छह स्थितियाँ (विकार) हैं— जनमना, रहना, बढ़ना, बदलना, क्षय होना, समाप्त होना। भगवान् का शरीर इन सब से मुक्त है। इसी प्रकार भगवान् में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ममता, अहंकार का अभाव है। उन्होंने अपने को संसारी शरीर से भिन्न सृजित किया है। अपने लिए अपने-जैसा। दूसरों के लिए दूसरे-जैसा। यह पक्षपात कहा जाएगा? नहीं; यह पक्षपात नहीं है। लीला में पक्षपात नहीं है। नाटक का निर्देशक किसी के साथ पक्षपात नहीं करता। वह योग्यतानुसार कार्य-विभाजन करता है। योग्यता पूर्व संस्कार या अभ्यास-संस्कार से आती है। भगवान् स्वतः योग्य हैं। उनमें कोई पूर्वापर संस्कार नहीं बनता है।

वेदान्त, सी ३३ / ७८-४

चनुआ छिन्नपुर, वाराणसी-२



## सा विद्या या विमुक्तये : मूलभाव

□ डा० श्रीरंजन सूरिदेव

भारतीय आर्ष चिन्तन में 'ज्ञान' को ही 'विद्या' कहा गया है और विविध लौकिक भोगैश्वर्य की प्राप्ति के साधन-स्वरूप 'कर्म' को 'अविद्या' की संज्ञा दी गई है। इस दृष्टि से विद्या यदि ज्ञान है तो अविद्या कर्म है। ऋषियों ने इन दोनों, अर्थात् ज्ञान और कर्म के तत्त्वों को भली भाँति समझकर उनके अनुष्ठान का उपदेश किया है; क्योंकि विद्या और अविद्या का विवेकपूर्वक उपयोग करनेवाला मनुष्य ही इन दोनों रहस्यमय ज्ञान और कर्ममूलक साधनों से जीवन के सर्वोत्तम लक्ष्य विमुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

**विद्या और अविद्या :** 'ईशावास्योपनिषद्' की मन्त्रसंख्या ६ में उपनिषत्कार ने लिखा है कि जो मनुष्य विद्या और अविद्या के यथार्थ स्वरूप को न समझकर कर्म का आचरण करता है, वह दुर्गति को प्राप्त होता है। पुनः जो मनुष्य भोगासक्त होकर भोगों की प्राप्ति के साधन-रूप अविद्या, अर्थात् विविध कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे उन कर्मों के परिणाम-स्वरूप अज्ञान के अन्धकार से परिपूर्ण विविध योनियों और उनके भोगों को भोगने के लिए विवश होते हैं, फलतः जन्म के चरम और परम लक्ष्य विमुक्ति को न पाकर जन्म-मरण के चक्र में पड़ जाते हैं और विविध तापों से तप्त होते रहते हैं।

इससे भिन्न, सर्वोत्तम फल, अर्थात् विमुक्ति के साधन-स्वरूप विद्या या ज्ञान के यथार्थ स्वरूप हैं— सत् और असत्, नित्य और अनित्य का विवेक, सांसारिक भोग-साधनों से पूर्ण विरक्ति, संयमपूर्ण

पवित्र जीवन और परब्रह्म परमात्मा के चिन्तन में अखण्ड संलग्नता। इसी प्रकार, विमुक्ति के साधन-रूप कर्म के स्वरूप हैं— कर्म में कर्तृत्व के अभिमान का अभाव, राग-द्वेष और फल की आकांक्षा का अभाव तथा अपनी परिस्थिति के अनुरूप भगवत्सेवा या राष्ट्रसेवा के भाव से श्रद्धापूर्वक शास्त्रविहित आचरण। इन स्वरूपों से समस्त दुर्गुणों और दुराचारों का अशेष रूप से नाश हो जाता है, जिससे मनुष्य जीवन्मुक्त (जीते जी मुक्त) हो जाता है।

**अनासक्ति : जीवन्मुक्ति :** 'ईशावास्योपनिषद्' की मन्त्र-संख्या ११ में उपनिषत्कार ने विद्या और अविद्या को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि विद्या, अर्थात् ज्ञानतत्त्व और अविद्या, अर्थात् कर्मतत्त्व को जो यथार्थ रूप से जान लेता है, वह कर्म के अनुष्ठान से सांसारिक विषयों से मुक्त हो जाता है और ज्ञान के अनुष्ठान से अमृतत्व को प्राप्त करता है, अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है।

**विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं स ह।**

**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥**

विद्या और अविद्या, अर्थात् ज्ञान और कर्म को समझने में बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भ्रम में पड़ जाते हैं। कर्म के रहस्य से अनभिज्ञ मनुष्य ज्ञान के अभिमानवश कर्म को ज्ञान में बाधक समझ बैठते हैं और अपने आवश्यक कर्तव्य कर्मों को त्याग देते हैं। किन्तु इस प्रकार के त्याग से उन्हें त्याग का यथार्थ फल— कर्मबन्धन से मुक्ति, अर्थात् जीवन्मुक्ति नहीं मिलती।

इसी प्रकार, ज्ञान के रहस्य को न समझनेवाले मनुष्य अपने को ज्ञानी अथवा संसार से ऊपर उठे



हुए मान लेते हैं। अतः वे या तो अपने को पुण्य-पाप से अलिप्त मानकर स्वच्छन्द कर्माचरण में प्रवृत्त हो जाते हैं या कर्मों को भार-रूप समझकर उन्हें छोड़ देते हैं और आलस्य, निद्रा तथा प्रमाद में पड़कर अपने दुर्लभ मानव-जीवन के अमूल्य समय को व्यर्थ नष्ट कर देते हैं।

इस प्रकार वे विद्या और अविद्या दोनों को अनर्थकर बना लेते हैं। इन दोनों प्रकार के अनर्थों से बचने का एकमात्र उपाय कर्म और ज्ञान, अर्थात् अविद्या और विद्या के रहस्य को समझकर उनका यथायोग्य अनुष्ठान करना है। इसलिए उक्त मन्त्र में कहा गया है कि जो मनुष्य इन दोनों तत्त्वों को समेकित भाव से समझ लेता है, वह अपने करणीय कर्मों का कभी त्याग नहीं करता, वरन् कर्तव्य के अभिमान और तज्जन्य राग-द्वेष से रहित होकर निष्काम भाव से कर्म का आचरण करता है।

इससे उसकी जीवनयात्रा सुखपूर्वक सम्पन्न होती है और निष्काम भाव से कर्माचरण के फलस्वरूप उसका अन्तःकरण समस्त दुर्गुणों एवं विकारों से रहित, पूर्णतः निर्मल हो जाता है और तभी वह जीवन्मुक्त होकर समग्र भाव से लोकसेवा के प्रति समर्पित हो पाता है। जीवन्मुक्त व्यक्ति ही विवेक और वैराग्य से सम्पन्न होकर अनासक्त भाव से कार्य करने में सफल होता है।

‘ईशावास्योपनिषद्’ की मन्त्र-सं०-२ में जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिए ही कहा गया है कि कर्म करते हुए भी वह कर्म से लिप्त नहीं होता; क्योंकि वह जगत् के एकमात्र कर्ता, धर्ता, हर्ता, सर्वशक्तिमान् सर्वमय परमेश्वर का सतत स्मरण रखते हुए समर्पित भाव से सब कुछ उन्हीं का समझकर उन्हीं की पूजा के लिए शास्त्रनियत कर्तव्य कर्मों का आचरण करते हुए सौ वर्ष जीने की कामना करता है।

भाव यह है कि शास्त्रोक्त स्वकर्म का आचरण करते हुए जीवन-निर्वाह करना वस्तुतः परमेश्वर

की पूजा के लिए है, अपने भोग भोगने के लिए नहीं। इस प्रकार ईश्वरार्पित समझकर किए जानेवाले कर्म बन्धन में नहीं डालते। कर्म करते हुए कर्म से लिप्त न होने का यही एकमात्र मार्ग है। मूल मन्त्र इस प्रकार है—

**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।**

**एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।**

**ज्ञानयज्ञ : ज्ञानयोग :** ‘गीता’ की दृष्टि से भी विद्या की उपासना ही ज्ञानयज्ञ है और सांसारिकता से अपने को निर्लिप्त अनुभव करने एवं परमात्मा के साथ अभिन्न भाव से नित्य निरन्तर जुड़े रहने के भावबोध की स्थिति में यह ज्ञानयज्ञ ज्ञानयोग में परिणत हो जाता है। गीता के अनुसार योग समता का नाम है (**समत्वं योग उच्यते**)। कर्तव्य कर्म करते हुए अन्तःकरण को सतत निर्विकार रखना ही कर्मयोग की समत्व-भावना है। यही कर्म में अकर्म की स्थिति है और इस योगयुक्त स्थिति में पहुँचा हुआ मनुष्य ही कर्मयोगी कहलाता है। और फिर, आत्मसत्ता को ही विवेकपूर्वक परमात्मसत्ता समझते हुए सांसारिक कर्मों के फल से विरक्त या निर्विकार रहना ज्ञानयोग है।

**ज्ञानयोग : कर्मयोग** ज्ञानयोग और कर्मयोग में नित्य सम्बन्ध या फिर अविनाभावी सम्बन्ध है। कर्मचेतना जब ज्ञानयोग से सम्बद्ध होती है, तभी निस्संगता का बोध होता है। कर्मयोग में मन, बुद्धि, अन्तःकरण, इन्द्रिय और शरीर को जगत् का समझा जाता है, अतः कर्मयोगी के समस्त कर्म सेवा-भावना से होते हैं और ज्ञानयोग में मन आदि तत्त्वों को मायामय प्रकृति का माना जाता है, अतः ज्ञानयोगी के सारे कर्म निरहंकार भाव से सम्पन्न होते हैं। कर्मयोग क्रियाप्रधान है तो ज्ञानयोग विचारप्रधान। इन दोनों की अभिन्नता होने पर ही विमुक्ति की आकांक्षा-पूर्ति सम्भव होती है।

महाकवि जयशंकर प्रसाद ने भी 'कामायनी' महाकाव्य में ज्ञान और क्रिया की भिन्नता की स्थिति को पारस्परिक विरोधमूलक जीवन की विडम्बना का मूल कारण माना है—

ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है  
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;  
एक दूसरे से न मिल सके  
यह विडम्बना है जीवन की।

(कामायनी : रहस्य सर्ग)

**विद्या : चेतनाशक्ति :** भारत में विद्या या चेतना-शक्ति की अधिष्ठात्री महादेवी के रूप में सरस्वती के पूजन की परम्परा प्राचीन काल से ही प्रचलित है। तन्त्रग्रन्थों में भी विद्या की देवी सरस्वती को वाक्यरूपा या वाग्देवी कहा गया है। राष्ट्र को शारीरिक बल या पशुबल, सम्पत्तिबल और ज्ञानबल तीनों की आवश्यकता होती है। शारीरिक बल या पशुबल एवं धनबल यदि भारत की कृषिसंस्कृति से जुड़ा है तो ज्ञानबल ऋषिसंस्कृति से।

ऋषिसंस्कृति और कृषिसंस्कृति ये दोनों संस्कृतियाँ ही भारत की मूल सांस्कृतिक चेतना का प्रतिनिधित्व करती हैं। किन्तु ज्ञानबल या विद्याबल के बिना शरीरबल या सम्पत्तिबल निरर्थक होता है। बुद्धिमान् ही वास्तविक रूप से बलवान् होता है ('बुद्धिर्यस्य बलं तस्य।'— हितोपदेश)। पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि बल से नहीं, उपाय से ही सम्भव है (उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः।— हितोपदेश)। ज्ञानबल के समक्ष अन्य समस्त बल प्रभावहीन ही रहते हैं।

ज्ञानबल या विद्याबल के बिना मनुष्य में धन की मदान्धता या पशुता की वृद्धि सहज ही सम्भावित रहती है। अतएव काली-रूप पशुबल और लक्ष्मी-रूप सम्पत्ति-बल के सन्तुलन के लिए सरस्वती-रूप ज्ञानबल की उपासना आवश्यक होती है। धनबल के सन्तुलन के लिए बुद्धिबल भी

अपेक्षित होता है। अतः लक्ष्मी के साथ गणेश की उपासना अनिवार्य होती है।

सरस्वती की उपासना मूलतः भारतीय चिन्तन-शक्ति की ही उपासना है। इसीलिए 'दुर्गासप्तशती' के नववर्ण मन्त्र— 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' में सरस्वती-बीज 'ऐं' को ही प्राथमिकता दी गई है, लक्ष्मी-बीज 'ह्रीं' और काली-बीज 'क्लीं' को क्रमशः दूसरा और तीसरा स्थान प्राप्त है। सरस्वती को चिन्मयी ज्ञानशक्ति कहा गया है, जबकि महालक्ष्मी को आनन्दमयी नित्य इच्छाशक्ति और महाकाली को नित्य क्रियाशक्ति बताया गया है।

**विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती :** भारतीय सप्तसिन्धु में सरस्वती नदी की भी गणना की गई है। प्रयाग के संगम की त्रिवेणी में सरस्वती की धारा अन्तर्मुखी मानी जाती है। इस मान्यता की तात्त्विकता यह है कि सरस्वती ज्ञानरूपा हैं, इसलिए ज्ञान का कोई आकार नहीं होता। मानवमन में तत्त्वज्ञान से सम्बद्ध चेतना की धारा सदैव प्रच्छन्न या परोक्ष रूप से ही प्रवाहित होती है। 'ऋग्वेद' में सरस्वती की प्रार्थना के लिए स्वतन्त्र 'सरस्वती-सूक्त' की ही रचना की गई है, जिसमें उन्हें ज्ञान, इच्छा और क्रिया, इन तीनों शक्तियों का पर्याय कहा गया है।

पुराणों में भी सरस्वती की अवतारणा विद्यादेवी के रूप में ही की गई है। समस्त विश्व की कारणभूता आद्या-शक्ति परमेश्वरी की अभिव्यक्ति तीन स्वरूपों में हुई है— महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। इनकी मूल प्रकृति महालक्ष्मी ही हैं। वही विशुद्ध सत्त्वगुण के अंश से महासरस्वती के रूप में आविर्भूत हुई हैं। 'महालक्ष्मीर्महाकाली सैव प्रोक्ता सरस्वती' (दु० स०)। यह विद्यादेवी त्रिलोकव्यापिनी हैं। स्वर्ग की वाग्देवी का नाम भारती है, पृथ्वी की वाग्देवी का नाम इला या इडा है और अन्तरिक्षवासिनी वाग्देवी सरस्वती कहलाती हैं।

तन्त्रशास्त्र में प्रसिद्ध तारा देवी का नाम भी सरस्वती है। ये देवी सम्पूर्ण संशयों का उच्छेद करनेवाली, ज्ञानात्मिका और मुक्तिदायिनी हैं। इनकी उपासना से सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वीणाधारिणी सरस्वती संगीतशास्त्र की भी अधिष्ठात्री देवी हैं। ताल, स्वर, लय, राग-रागिनी आदि का प्रादुर्भाव इन्हीं से हुआ है। सात स्वरों द्वारा इनका स्मरण किया जाता है, इसलिए 'स्वरात्मिका' कहलाती हैं। सप्तविध स्वरों का ज्ञान प्रदान करने के कारण ही इनका नाम 'सरस्वती' है। संगीत के क्षेत्र में सरस्वती की प्रार्थना में यह विशेषण-परक सांगीतिक काव्यपंक्ति बहुधा प्रयुक्त होती है—

**सरगमपधनिरतां तां वीणासंक्रान्तहस्तान्ताम् ।**

**विद्या का तत्त्वार्थ नैतिक शिक्षा :** विद्या का तत्त्वार्थ है— नैतिक शिक्षा। जीवन के सही-सही मूल्यांकन की योग्यता-प्राप्ति के निमित्त नैतिक शिक्षा अनिवार्य है। नीतिशास्त्र ही नैतिक शिक्षा का आधार है। नैतिक शिक्षा आदिम काल से ही मानव-जीवन का नियमन परम्परा या प्रथा के रूप में करती आई है। वास्तव में नैतिक शिक्षा ही मानव-जीवन की वह विशेषता है, जो उसे पशुधर्म से पृथक् करती है। इसीलिए, नीतिकार कहते हैं—

**आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च**

**सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।**

**धर्मो हि तेषामधिको विशेषो**

**धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।।**

(हितोपदेश)

अर्थात् आहार, निद्रा, भय और मैथुन पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से पाए जाते हैं। नैतिक धर्म ही मनुष्य में विशेष है। अन्यथा, नैतिक धर्म से हीन मनुष्य पशु के समान होते हैं।

नैतिक शिक्षा से मनुष्य को वह शक्ति प्राप्त होती है, जिसका वह सामाजिक और चारित्रिक

मूल्यों के निर्धारण तथा व्यवहार में प्रयोग करता है; इसलिए नैतिक शिक्षा का सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध मानव-जीवन के मूल्यों से है। और फिर, मानव-जीवन का आधारभूत मूल्य वह है, जो मानव के शुभ तथा उचित जीवन और आत्मज्ञान या आत्मोपलब्धि की अनुकूलता से सम्बद्ध हो। विद्या से अविद्या का उन्मूलन या फिर आत्मज्ञान से कर्म का उपशम ही विमुक्ति है। आचार्य शंकर ने भी आत्मज्ञान को ही विमुक्ति का उपाय कहा है (द्र० 'विवेकचूडामणि', श्लोक सं० : २००-२०१)।

नैतिक शिक्षा का सबसे निकट सम्बन्ध दर्शन और धर्म से है। भारतीय जीवन में दर्शन और धर्म अभिन्न रूप से साथ-साथ रहते हैं और ये नैतिक जीवन के आधार-स्तम्भ हैं। इसलिए दर्शन और धर्म के किसी भी पाठ्यक्रम में नैतिक शिक्षा या नीतिशास्त्र का स्थान सुरक्षित है। जीवन के मूल्यों का सर्वांगीण विवेचन ही नैतिक शिक्षा का मुख्य ध्येय है। इसीलिए नैतिक शिक्षा सामाजिक जीवन को सहज ही अनुप्राणित और प्रभावित करती है।

**नैतिक शिक्षा का पुनर्मूल्यांकन :** कभी-कभी भारतीय इतिहास में मानव-जीवन और शास्त्रों को नीति-निरपेक्ष बनाने का प्रयास किया गया, परन्तु यह कभी व्यापक और सफल नहीं हो पाया। कभी चार्वाक के सुखवाद के नाम से, कभी बुद्धिवाद या अस्तित्ववाद के नाम से और कभी विज्ञानवाद के नाम से यह प्रयास किया गया और इससे भी अधिक सबल प्रयास राजनीति के नाम से समाज को नीति-निरपेक्ष बनाने का हुआ। किन्तु नीति-निरपेक्षता के इस सिद्धान्त को चाणक्य या कौटिल्य-जैसे विमुक्तिवादी विद्योपासक तथा व्यावहारिक राजनीतिज्ञ भी मानने को तैयार नहीं थे।

आधुनिक युग में विज्ञान, बुद्धिवाद, अस्तित्ववाद एवं भूतचैतन्यवादी चार्वाक-दर्शन ने नई भौतिक शक्ति प्राप्त कर परम्परागत नीति और

दर्शन की आध्यात्मिक भित्तियों को हिला दिया है। डारविन, मार्क्स और फ्रायड-जैसे पाश्चात्य चिन्तकों ने मनुष्य की प्राथमिक मूल वासनाओं को भौतिक धरातल पर इतने प्रबल रूप में उभार दिया है कि मनुष्य की सभी नैतिक मान्यताएँ, आस्थाएँ और मूल्य अस्त-व्यस्त हो गए हैं। नैतिक ऊहापोह, अनास्था और अव्यवस्था का वातावरण सर्वत्र व्याप्त हो गया है। ऐसी स्थिति में नैतिक शिक्षा का पुनर्मूल्यांकन स्वभावतः आवश्यक हो गया है। तभी शिक्षा का यह सही मूल्य उद्भावित होगा कि विद्या विमुक्ति के लिए है, उपभोग के लिए नहीं।

**कर्म-स्वातन्त्र्य और नैतिक दायित्व :** इस सन्दर्भ को हम थोड़ी और गम्भीरता से लें। विद्यावादी भारतीय नीतिशास्त्रियों ने नैतिकता का आधार प्रायः धर्म, विधि तथा सामाजिक प्रथाओं के परिवेश में ढूँढ़ा है तथा श्रुति, स्मृति और परम्परा को उसका आधार माना है। जिन नैतिक प्रश्नों पर बाहरी प्रमाण दुर्लभ है, उन्हीं के निर्णय के लिए आत्मतुष्टि या आत्मविवेक को ही प्रमाण माना गया है। महाकवि कालिदास भी यही अनुभव करते हैं—

**सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।**

(अभिज्ञानशकुन्तलः १.१२)

श्रुति, स्मृति और सामाजिक परम्परा का सम्बन्ध नीति के आन्तरिक जीवन में ढूँढ़ने का प्रयास किया गया। इस क्रम में यह अनुभव किया गया कि सारी क्रियाएँ चाहे नैतिक हों या अनैतिक, मानवचित्त से उद्भूत होती हैं। अतः नैतिक-अनैतिक कार्यों का मूल उद्गम-स्थान चित्त ही है। जब तक मनुष्य अपने भौतिक आवेगों से अभिभूत या बाह्य प्रमाणों से प्रेरित और आदिष्ट रहता है, तब तक उसके नैतिक दायित्व का प्रश्न नहीं उठता। जब वह अपने कर्म-स्वातन्त्र्य का अनुभव करता है, तभी उसके नैतिक दायित्व का उदय होता है।

ब्राह्मणों और श्रमणों के तमाम धर्मग्रन्थों में मूलतः विद्या से विमुक्ति का ही समर्थन किया गया

है, जिसका एकमात्र आधरोपाय नैतिक शिक्षा ही है। ब्रह्मणधर्म के वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि के अतिरिक्त विभिन्न स्मृतिग्रन्थों की तरह श्रमण-धर्म के बौद्ध-जैन ग्रन्थों में भी नैतिक शिक्षा की आवश्यकता पर बहुत अधिक बल दिया गया है।

जैनधर्म के अनुसार गृहस्थ के लिए नैतिक जीवन जीने के अभ्यास के निमित्त चार शिक्षाव्रतों को धारण करना आवश्यक है। प्रथम शिक्षाव्रत है 'सामयिक' या 'सामायिक', अर्थात् समत्व-भाव का अभ्यास। प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में एकान्त में बैठकर मन को सांसारिक विक्षेप और अशुभ चिन्तन से हटाकर, उसे सन्तुलित करते हुए धर्मचिन्तन में लगाना चाहिए।

ब्राह्मणधर्म में जो स्थान सन्ध्याविधि का है, वही स्थान जैनधर्म में 'सामयिक' या 'सामायिक' का है। दूसरा शिक्षाव्रत है— 'प्रौषधोपवास', अर्थात् घरेलू व्यापारों से विरत होकर किसी पूजायतन में स्वाध्याय, देवपूजन आदि शुभ कार्य। तीसरा शिक्षाव्रत है— 'भोगोपभोग-परिमाणव्रत', अर्थात् प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास के द्वारा भूख पर विजय पाने का अभ्यास और चौथा शिक्षाव्रत है— 'अतिथि-संविभागव्रत' अर्थात् अपने द्वार पर आए हुए अतिथि का स्वागत-सत्कार।

इसी प्रकार बौद्धों की नैतिक शिक्षा में अष्टांगिक मार्ग को महत्त्व दिया गया है, जिसमें सम्यक्-दृष्टि, संकल्प, वचन, कर्म, आजीविका, प्रयत्न, स्मृति अर्थात् अन्तर्दृष्टि और समाधि अर्थात् आन्तरिक शान्ति की स्थिति का मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक विवेचन किया गया है। ब्राह्मणों अथवा वैदिकों के सांख्य और योगदर्शन की तरह इन दोनों श्रमण-धर्मों में भी नैतिकता के विकास के लिए ध्यान और योग को मुख्य स्थान दिया गया है, जिसमें मानसिक परिशुद्धि और समुचित शारीरिक अवस्थिति आवश्यक मानी गई है।

**भारतीय नैतिक शिक्षा के विकास का इतिहास:** भारतीय नैतिक शिक्षा के विकास का इतिहास बहुत प्राचीन है। यह ऋग्वेद की ऋचाओं से आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों तक अनेक अवस्थाओं और परिस्थितियों को पार करती हुई विकसित होती रही है।

भारतीय नैतिक शिक्षा के विकास में स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, महात्मा गांधी आदि का अवदान केवल सिद्धान्तवादी ही नहीं, प्रयोगात्मक भी है। इन्होंने विमुक्तिपरक विद्या के व्यापक विकास से समेधित महीन समाज की कल्पना की थी। इनका वांछित आदर्श समाज आध्यात्मिक एकता, कर्तव्य-बोध और नैतिक सदाचार पर अवलम्बित था। इनका मन्तव्य था कि जब तक लोक अथवा जनता में नैतिक चेतना का विकास नहीं होगा, तब तक केवल पशुबल के आधार पर मानव के समानाधिकार की स्थापना सम्भव नहीं है। सत्य, अहिंसा और प्रेम का उपासक एवं आत्मचेतना तथा विद्याबल से सम्पन्न पुरुष ही आदर्श की सृष्टि कर सकेगा।

**गतिशीलता : नैतिक शिक्षा की विशेषता :** गतिशीलता मानवीय नैतिक शिक्षा की सर्वप्रमुख विशेषता है। यद्यपि सिद्धान्ततः धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों में विहित विधि और नियम सनातन माने जाते हैं, तथापि उनमें समयानुसार अपेक्षित परिवर्तन होता रहा है। भारतीय चिन्तन में अपने अतीत के प्रति गहरी श्रद्धा और सामयिक समस्याओं की अनुभूति के समन्वय का यह अनुकरणीय उदाहरण है। परिस्थितियों और पर्यावरण के साथ सामंजस्य बनाए रखना ही गतिशीलता है। इसीलिए भारतीय नीति के व्यावहारिक नियमों में समय-समय आवश्यक परिष्कार और परिवर्तन होता आया है। समाज और न्यायालय में सदाचार का बराबर आदर होता रहा है। आत्मपरितोष और न्यायबुद्धि से भावित मीमांसा परिवर्तनों और सुधारों के प्रेरक और पोषक

तत्त्व रहे हैं। युगधर्म और आपद्धर्म के सिद्धान्तों द्वारा समाज का निरन्तर नियन्त्रण, संशोधन और परिवर्द्धन होता आया है। इसलिए आज के युग में ऐसी नैतिक शिक्षा की आवश्यकता है, जिससे अनेक विषम परिस्थितियों और विपत्तियों से गुजरते हुए भी समाज जीवित और वर्धमान बना रहे।

**नैतिक विकास की स्थितियाँ :** महाभारत के अनुशासन-पर्व में नीति की व्याख्या विशद रूप से की गई है। भीष्मपर्व के प्रारम्भ में, युद्ध के पूर्व अर्जुन का व्यामोह, करणीय और अकरणीय के प्रति विमूढता और शंका तथा कृष्ण द्वारा उनकी शंका का समाधान नैतिक शिक्षा का केन्द्रस्थल है। गीता का पहला विषय है कि नैतिक जिज्ञासा और नैतिक उपदेश की योग्यता तथा पात्रता किसमें होती है। मनुष्य के बौद्धिक और नैतिक विकास की मुख्यतः तीन स्थितियाँ होती हैं— मूढ़, जागरूक और सिद्ध। मूढ़ को सांसारिक दुःख सताते नहीं, लोक-कल्याण की उसे चिन्ता नहीं होती और न उसे सत्यासत्य, शुचि-अशुचि, उचितानुचित और न्याय-अन्याय के सम्बन्ध में जिज्ञासा ही होती है। इसका कारण यह है कि मूढ़ तमोगुण से अभिभूत होता है।

द्वितीय, जागरूक स्थिति में रजोगुण की प्रधानता होती है। रजोगुणी का जीवन दुविधा, द्वन्द्व और संघर्ष का क्रीडाक्षेत्र होता है। वास्तव में उसका मानस ही कुरुक्षेत्र होता है।

तृतीय स्थिति, सिद्ध में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। उसके सभी मानसिक द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। वह दुविधा और संशय से कभी ग्रस्त नहीं होता। नैतिक शिक्षा द्वारा ही जड़ को जागरूक बनाकर उसे सिद्धावस्था या विमुक्त की स्थिति में पहुँचाया जा सकता है।

**भारतीय समाज और नैतिक शिक्षा :** भारतीय समाज नैतिक शिक्षा की प्रयोगशाला है। इसकी

तात्त्विक अभिव्यक्ति सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओं और रीति-रिवाजों में ही होती है। एक ओर जहाँ सामान्य धर्म या नीति का पालन सभी सामाजिकों या नागरिकों के लिए आवश्यक समझा गया, वहीं दूसरी ओर शासनिक अधिकारों के साथ-साथ विधि-व्यवस्था-सम्बन्धी अधिकारों और कर्तव्यों का भी विधान हुआ। इस प्रकार, नैतिक शिक्षा-जगत् में भारत का जो अवदान या जगद्गुरुत्व है, वह अतिशय महार्घ है। अनेक भारतीय नैतिक सिद्धान्त ऐसे हैं, जो आज ही नहीं, प्रारम्भ से ही समग्र संसार के लिए विचारणीय एवं ग्राह्य हैं और आगे भी रहेंगे।

वस्तुतः सदाचार ही नैतिक शिक्षा की मूल धुरी है। इसके टूटने से मानव-जीवन छिन्न-भिन्न हो जाएगा। नैतिक शिक्षा के प्रति जागरूक होकर जीवनयात्रा करने पर ही नैतिक मार्ग सुगम होगा। इसके साथ सभी समसामयिक प्रवृत्तियों और विचाधाराओं के समेकित आकलन द्वारा हितकर तत्त्वों को ग्रहण करने से ही नैतिक राजपथ का निर्माण होगा। वस्तुतः नैतिक शिक्षा से ही मानव-जीवन में सत्-असत् का ज्ञान, सत् की ओर प्रवृत्ति तथा असत् की ओर से निवृत्ति की चेतना विकसित हो सकती है, जिससे मानव सही दिशा-निर्देश प्राप्त कर अपने नैतिक दायित्व को सफलतापूर्वक निवाहने में पूर्ण समर्थ बन सकता है। इसी से उसमें 'असतो मा सद्गमय' की चेतना का व्यापक संचार हो सकता है।

**विद्या : शिक्षा का पर्याय :** विद्या शिक्षाशास्त्र का पर्यायवाची है, जिसका आधार व्यावहारिक जीवनानुभव है। जो जितना ही अनुभवी होता है, वह उतना ही ज्ञानी होता है। जिस प्रकार वैराग्य के बिना विवेक व्यर्थ है, उसी प्रकार व्यावहारिक अनुभव के बिना विद्या या शिक्षा निरर्थक है। व्यावहारिक

जीवनानुभव ही मनुष्य को क्रियावान् या व्यवहारपटु बनाता है। क्रियावान् पुरुष सच्चा विद्याविद् या विद्वान् होता है। हितोपदेशकार ने व्यावहारिक ज्ञान को मूल्य देते हुए लिखा है—

**शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः**

**यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।**

**सुचिन्तितं चौषधमातुरणां**

**न नाममात्रेण करोत्यरोगम्॥**

(हितोपदेश : मित्रलाभ)

इस नीतिवचन का तात्त्विक अर्थ यह है कि शास्त्र पढ़कर या विद्या अधिगत करके भी लोग विवेकहीन बने रहते हैं। विवेकी या विद्वान् तो वह होता है, जो क्रियावान् और अनुभवी या व्यवहारपटु होता है। व्यवहार-विहीन विद्या की स्थिति रोगियों के लिए सोच-समझकर बनाई गई औषधि के समान होती है, जो केवल नाम लेने मात्र से ही नीरोग नहीं करती। इसी प्रकार अच्छी-से-अच्छी और गम्भीर-से-गम्भीर विद्या यदि आचार या आचरण में नहीं लाई जाती तो वह निरर्थक ही रहती है। जीवन की समस्त प्रक्रियाओं की उत्कृष्टता या सम्पूर्ण विकास व्यावहारिक विद्या पर ही निर्भर है। विद्या ही सर्वोत्तम धन है। इसीलिए कहा गया है—

**विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्।**

**विमुक्ति का केन्द्रीय भाव :** विद्या को भारतीय चिन्तन में उच्चतर स्थान प्राप्त है। विद्या ज्ञान का माध्यम है और अपने-आपमें वह स्वयं ज्ञान भी है। 'सा विद्या या विमुक्तये' का केन्द्रीय भाव यह है कि विद्या से ही विमुक्ति प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में यह आर्ष वाक्य भी है 'ऋते ज्ञानान् मुक्तिः।' इस विमुक्ति का मूल अर्थ असद्भावों से विमुक्ति है— अज्ञान के अन्धकार से विमुक्ति, अन्धविश्वास से विमुक्ति, साम्प्रदायिक संकीर्णता से विमुक्ति, असदाचरणों या दुष्कृत्यों से विमुक्ति, स्वार्थवाद आदि पाशविक प्रवृत्तियों से विमुक्ति।

विमुक्ति का अर्थ है अपवित्र या असत् जीवन से मुक्त होकर पवित्र या सत् जीवन की प्राप्ति। यह लोकान्तर-गमन नहीं है, अपितु भूमण्डलीय स्तर पर लोकसेवा अथवा लोकधर्म से पवित्र लोकराज्य में प्रवेश है। विद्या के द्वारा हमें मैत्रीपूर्ण जीवन जीने की कला की सच्ची शिक्षा प्राप्त होती है। किसी को घृणा की दृष्टि से न देखना, किसी के प्रति द्वेषभाव न रखना, किसी को नीच या तुच्छ न समझना, अपितु प्रत्येक प्राणी के प्रति तुल्यभाव रखना ही लोकधर्म है। भारतीय चिन्तन द्वारा कल्पित लोकराज्य में व्यक्ति ही समाज और राष्ट्र-निर्माण की रीढ़ है। व्यक्ति-सुधार की उपेक्षा कर समाज-सुधार का डिण्डिमनाद करना लोकराज्य का उपहास करना है। जन-जन की भावना जभी परिष्कृत और पुनीत हो जाएगी, तभी समाज और राष्ट्र का अभ्युदय होगा। विद्या द्वारा प्राप्त विमुक्ति का अर्थ है— आत्मा का अनुशासन या आत्मज्ञान की प्राप्ति। इस प्रकार विद्या से विमुक्ति वस्तुतः सर्वतोमुख आत्मविकास ही है। आत्मविकास से सम्पन्न मनुष्य मिथ्यात्व से विमुक्त होकर जीवन के मूल लक्ष्य सम्यक्त्व की उपलब्धि में सफल होता है।

**ज्ञान : आत्मप्रेम : विश्वप्रेम :** विद्या से विमुक्ति को प्राप्त मनुष्य स्वात्माराम हो जाता है। जो स्वात्माराम हो जाता है, उसे सांसारिक विषय की मृगतृष्णा न भरमा सकती है, न ही भटका सकती है। (न हि स्वात्मारामं विषय-मृगतृष्णा भ्रमयति।— शिवमहिम्न : स्तोत्र) आत्माराम बनने का अर्थ है— आत्मज्ञानी होना। आत्मज्ञान ही आत्मरति या आत्मप्रेम या गोस्वामी तुलसीदास का 'स्वान्तःसुख' है। आत्मज्ञान के सम्बन्ध में भारतीय प्राच्य शास्त्र निरन्तर मुखर रहा है। वेद ने कहा— 'आत्मानं विद्धि।' गीता में भगवान् कृष्ण ने उद्घोषणा की— 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः।' भगवान् बुद्ध ने कहा— 'अत्ता हि अत्तनो नाथो' (धम्मपद)। भगवान्

महावीर ने बताया— 'अप्पा दंतो सुही होई' (उत्तराध्ययनसूत्र)। इससे स्पष्ट है कि सुखी जीवन के लिए आत्मज्ञान और आत्मप्रेम आवश्यक है। एक आत्मा में ही समग्र विश्वात्मा की व्यापकता निहित है। अतएव जो आत्मा को नहीं जानेगा, वह विश्वात्मा को नहीं समझ सकेगा।

विश्वात्मा के ज्ञान के लिए आत्मज्ञान अनिवार्य है। यहाँ तक कि आत्मसाधना का सम्बन्ध ईश्वर-साधना से जुड़ा हुआ है। इसीलिए भारतीय दार्शनिकों ने आत्मसाक्षात्कार को ही ईश्वर-साक्षात्कार का प्रतिकल्प कहा है। आत्मप्रेम विश्वप्रेम का ही अनुकल्प है, जिसमें 'सर्वभूतेषु आत्मवत्' या 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' या फिर 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' अथवा 'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु' की व्यापक प्रेमभावना अन्तर्ध्वनित है। जो आत्माराम होता है, वही 'परदारेषु मातृवत्' और 'परद्रव्येषु लोष्टवत्' की पवित्र दृष्टि से सम्पन्न होता है। ऐसी नैतिक अवधारणा आत्मप्रेम के जागरण से ही सम्बद्ध है।

जीवन में आत्मरति या आत्मसाधना न केवल आध्यात्मिक स्तर पर, अपितु भौतिक स्तर पर भी अनिवार्य है; क्योंकि बिना भौतिक सिद्धि के आध्यात्मिक सिद्धि दुष्प्राप्य होती है। आत्मरति या आत्मारामता अपनी मर्यादा में सीमित रहने की भावना के साधना-मूलक विकास को संकेतित करती है। इस साधना में 'मैं कौन हूँ?' इसी का अन्वेषण होता है। यही अन्वेषण-कार्य व्यापक स्तर पर 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' की उदात्त भावना से जुड़ जाता है। जब समस्त जीवलोक या विश्व को आत्मवत् देखने की दृष्टि मिल जाती है, तब आत्मप्रेम विश्वप्रेम में परिणत हो जाता है।

**निष्कर्ष :** इस प्रकार जब विश्व का प्रत्येक मनुष्य उदारचरित बनकर आत्मप्रेम या आत्ममर्यादा को विश्वप्रेम या विश्वमर्यादा मानकर उसके पालन में सहज सचेष्ट हो जाएगा, तब उसके लिए सम्पूर्ण

संसार स्वतः आत्मवत् बन जाएगा। उसके मन से 'अयं निजः परो वेति' की संकीर्णता लुप्त हो जाएगी और वह बहिरन्तः 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदात्त भावना से भर उठेगा। उसका अन्तःकरण वैसी उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित हो जाएगा, जहाँ उसे कैवल्य या स्वात्मत्व-मात्र का बोध होगा, वह केवलज्ञानी बन जाएगा और इसी एकमात्रता-बोध की स्थिति

में उसे आत्मारामता या विश्व-प्रेममूलक आत्मरति या आत्मप्रेम की क्षमता प्राप्त हो जाएगी। 'सा विद्या या विमुक्तये' का यही मूलभाव है।

पी० एन० सिन्हा कालोनी,  
भिखना पहाड़ी,  
पटना-६



A

## पल में परलै होयगी

A

पततां भुक्तिमुक्त्यादिप्रद एको हरिर्धुवम्।

दृष्ट्वा लोकान् भ्रियमाणान् सहायं धर्ममाचरेत्।।

सभी लोग मर रहे हैं, यह देखकर एकमात्र सहायक धर्म का आचरण करें क्योंकि गिरे हुए (शरणागत) लोगों को भोग एवं मोक्ष प्रदान करनेवाले एकमात्र भगवान् श्रीहरि हैं।

मृतोऽपि बान्धवः शक्तो नानुगन्तुं नरं मृतम्।

जायावर्जं हि सर्वस्य याम्यः पन्था विभिद्यते।।

पतिव्रता पत्नी को छोड़कर अन्य कोई अपना बन्धु-बान्धव मरकर भी मृतक मनुष्य के पीछे नहीं जा सकता, क्योंकि यमराज के यहाँ सबका अलग-अलग मार्ग है।

धर्म एको व्रजत्येनं यत्र क्व च गामितम्।

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्ने चापराह्णिकम्।।

एकमात्र धर्म ही है, जो जहाँ-कहीं जानेवाले इसका (जीव का) अनुगमन करता है। इसलिए कल का कार्य आज ही कर लें और दूसरे प्रहर का कार्य अभी।

न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वाऽस्य न वा कृतम्।

क्षेत्रापणगृहासक्तमन्यत्रगतमानसम्।।

खेती-बारी, क्रय-विक्रय, घर-द्वार के काम में मन लगाए व्यक्ति को देखकर मृत्यु यह प्रतीक्षा नहीं करती है कि इसका कार्य पूरा हुआ है कि नहीं अर्थात् पूरा हो तब इसे ले चलूँ।

वृकीधोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति।

न कालस्य प्रियः कश्चिद् द्वेष्यश्चास्य न विद्यते।।

जैसे भेड़िया भेड़ को पकड़ ले जाता है, वैसे ही मृत्यु अचानक उठा ले जाती है। इसका कारण है कि काल का न कोई प्रिय होता है और न अप्रिय ही।



V

V



## श्रवणकुमार का उपाख्यान

□ आचार्य किशोर कुणाल

भारतीय संस्कृति में दो ऐसे प्रेरक पुरुष रहे हैं, जिनके चरित ने देशवासियों को शताब्दियों से सत्यथ पर प्रवृत्त किया है। वे हैं— सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र और मातृ-पितृभक्त श्रवणकुमार। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के जीवन पर भी इन दोनों महापुरुषों के चरित की अमिट छाप रही है।

श्रवणकुमार की मातृ-पितृभक्ति ऐसी अनुकरणीय रही है कि कोई भी व्यक्ति किसी आज्ञाकारी पुत्र को देखता है तो सहसा उसके मुख से निकल जाता है— यह तो श्रवणकुमार है।

श्रवणकुमार की कथा वाल्मीकि-रामायण, अश्वत्थ-रामायण, आनन्द-रामायण, ब्रह्मपुराण, अग्निपुराण, रघुवंश, रामायण-मंजरी तथा संस्कृत के अन्य अनेक ग्रन्थों में मिलती है। 'श्रवण-रामायण' का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु वह अभी प्राप्य नहीं है।

भाषाबद्ध रामकथाओं में भी श्रवणकुमार की गाथा का भूरिशः वर्णन मिलता है। किन्तु सबों का न्यूनाधिक स्रोत वाल्मीकि-रामायण में वर्णित श्रवणकुमार-चरित प्रस्तुत किया जा रहा है। यद्यपि वाल्मीकि-रामायण में मुनिकुमार का नाम नहीं खोला गया है, तथापि आनन्द-रामायण एवं ब्रह्मपुराण आदि ग्रन्थों में मुनिकुमार का नाम श्रवणकुमार मिलने के कारण श्रवण नाम ही घर-घर में प्रचलित है।

वाल्मीकि-रामायण की कथा के अनुसार श्रीराम के वनप्रयाण के छठे दिन सुमन्त्र के प्रत्यागमन के बाद राजा दशरथ अत्यन्त व्यग्र, व्याकुल हैं।

रात्रि में मुहूर्त-भर निद्रा के बाद ही शोकाकुल राजा पुनः जग उठते हैं। मध्य रात्रि में उन्हें अतीत का अनजाने में किया हुआ पाप और वृद्ध तापस का शाप स्मृत हो उठता है और पार्श्ववर्ती कौसल्या से वह गाथा सुनाते हैं।

राजा दशरथ कौसल्या से कहते हैं— “जब मैं युवराज ही था, तुम्हारे साथ विवाह नहीं हुआ था; तब शब्दभेदी बाण चलाने का अभ्यास ऐसा व्यसन बन चला था कि पावस ऋतु के आगमन पर मैं धनुष-बाण लेकर रात्रि में अयोध्या के पास सरयूतट पर इस आशा में आखेट करने गया था कि कोई वन्य प्राणी सरयू नदी में पानी पीने आएगा तो उस नीरपान के क्रम में उत्पन्न ध्वनि के आधार पर मैं शब्दभेदी बाण का प्रहार कर उसका संहार करूँगा। रात्रि में घोर अन्धकार था। सहसा मुझे ऐसी आवाज सुनाई पड़ी, जो वास्तव में जल में घड़ा भरने के कारण उत्पन्न हुई थी, किन्तु जो मुझे हाथी द्वारा अपनी सूँड़ से जल पीने की ध्वनि प्रतीत हुई। तत्क्षण मैंने उस ध्वनि के आधार अपना शब्दभेदी बाण चला दिया। किन्तु हाथी के बदले मुझे एक तपस्वी की यह चीख सुनाई पड़ी—

**कथमस्मद्विधे शस्त्रं निपतेच्च तपस्विनि।**

**प्रविविक्तां नदीं रात्रावुदाहारोऽहमागतः।।**

(वा० रामायण : २.६३.२६)

अर्थात् आह! मेरे-जैसे तपस्वी पर यह शस्त्रप्रहार कैसे हुआ? मैं तो रात में नदी के इस नीरव तट पर पानी लेने आया था।

उस तापसकुमार का करुण विलाप सुनकर युवराज दशरथ हतप्रभ हो गए। उनके हाथों से धनुष-बाण छूटकर पृथ्वी पर गिर पड़े। शोकाकुल होकर दुःखी मन से वे घटनास्थल पर पहुँचे, जहाँ उन्होंने देखा कि एक तपस्वी बाण से विद्ध होकर पृथ्वी पर पड़े हुए हैं। उनकी जटाएँ बिखरी हुई हैं और घड़े का जल गिरा पड़ा है तथा उनका शरीर धूल और रक्त से सना हुआ है। उनकी वह दारुण दशा देखकर दशरथ का दिल दहलने लगा और चित्त ठिकाने नहीं रहा। उस तापस-कुमार ने जब युवराज की ओर दृष्टि दौड़ाई तब दशरथ को लगा कि उस तापस-तेज से वे भस्म हो जाएँगे।

उस तापसकुमार ने दशरथ से कहा— “वन में रहते हुए मैंने तुम्हारा कौन-सा अपकार किया था कि तुमने मुझे बाण से मारा? मैं तो माता-पिता के लिए जल लाने आया था। तुमने एक ही बाण से न केवल मेरा मर्म भेदा; बल्कि मेरे दोनों अन्धे और बूढ़े माता-पिता को भी मार डाला। वे दोनों अत्यन्त दुर्बल और अन्धे हैं तथा मेरी प्रतीक्षा में प्यासे पल-पल की गणना कर रहे होंगे। किन्तु दुर्भाग्यवश मैं बाणविद्ध, धराशायी, मरणासन्न हूँ। मैं अपने प्यासे माता-पिता की तृषा भी नहीं मिटा सकता। राजन्! यह पगडण्डी उनके आश्रम तक गई है। तुम शीघ्र वहाँ जाओ और उन्हें यह समाचार सुनाओ। ऐसा प्रयत्न करो कि उनके क्रोध का शमन हो जाए और वे तुम्हें उस प्रकार न जला डालें, जिस तरह दावाग्नि वन को जला डालती है। हाँ; जाने के पूर्व मेरे शरीर से इस बाण को निकालते जाना, ताकि इस असह्य पीड़ा से छुटकारा मिल सके।

दशरथ असमंजस में पड़ गए। उन्हें डर था कि कहीं बाण निकालने से तपस्वी की मृत्यु न हो जाए और उन्हें ब्रह्महत्या का पाप लगे। उनकी ग्लानि को देखकर तापसकुमार ने कहा— ‘यदि तुम्हारे हृदय में ब्रह्महत्या के ताप की चिन्ता हो रही

हो तो उसे निकाल दो (ब्रह्महत्याकृतं तापं हृदयादपनीयताम्); क्योंकि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ; मैं वैश्य पिता द्वारा शूद्रा माता के गर्भ से उत्पन्न हूँ।’

तापसकुमार के कथनानुसार दशरथ ने ज्यों ही शरीर से बाण निकाला, त्यों ही उस तपस्वी के प्राण-पखेरू उड़ गए। यह देखकर दशरथ अत्यन्त भयभीत हो गए। वे अपनी रक्षा एवं कल्याण का उपाय सोचने लगे। तापसकुमार के प्यासे माता-पिता की तृषा बुझाने के लिए वे उसी घड़े में स्वच्छ जल भरकर उस वृद्ध दम्पति के पास पहुँचे। उस दम्पति की अवस्था का वर्णन करते हुए दशरथ कहते हैं—

तत्राहं दुर्बलावन्धौ वृद्धावपरिणायकौ।

अपश्यं तस्य पितरौ लूनपक्षाविव द्विजौ॥

(वा० रामायण : २.६४.४)

अर्थात् वहाँ मैंने उनके (श्रवणकुमार के) माता-पिता को देखा, जो दुर्बल, अन्धे, वृद्ध एवं असहाय थे तथा उनकी दशा पंख-कटे हुए दो पक्षियों-जैसी थी।

जिस प्रकार पंखहीन पक्षी उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार पुत्र के अभाव में ये वृद्ध माता-पिता अब कहीं आ-जा नहीं सकेंगे।

श्रवणकुमार के उपाख्यान का वर्णन वाल्मीकि ने जिस मार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है, वह विश्ववाङ्मय में दुर्लभ है। दशरथ जब अपने पदचाप को दबाए आश्रम पहुँचते हैं, तब प्रतीक्षारत वृद्ध दम्पति अपने पुत्र का आगमन समझकर प्रश्नों की बौछार कर बैठते हैं—“पुत्र! क्यों और कैसे विलम्ब हुआ? शीघ्र आओ और जल पिलाकर प्यास बुझाओ। इस उषावेला में इतनी देर तक जलक्रीड़ा क्यों कर रहे थे? क्या मेरे या अपनी माता के किसी व्यवहार से तो तुम दुःखी नहीं हो? यदि हममें से किसी से कुछ अप्रिय हुआ हो तो भी तुम्हें इसे मन में नहीं रखना चाहिए; तुम तो तपस्वी हो।

तुम ही हम असहायों के सहाय हो, हम नेत्रहीनों के नेत्र हो; हमलोगों के प्राण तुममें ही अटके हुए हैं। बताओ बेटे! तुम बोलते क्यों नहीं हो?

**त्वं गतिस्त्वगतीनां च चक्षुस्त्वं हीनचक्षुषाम्।**

**समासक्तास्त्वयि प्राणाः कथं त्वं नाभिभाषसे।।**

(वा० रामायण : २.६४.१०)

तपस्वी दम्पति का वचन सुनकर दशरथ की घिग्घी बँध गई। बहुत प्रयास करने के बाद उन्होंने कुछ कहने का साहस जुटाया। दशरथ ने वृद्ध दम्पति को सूचित किया कि भगवन्! मैं आपका पुत्र नहीं हूँ। मैं तो दुर्भाग्य का मारा अयोध्या का युवराज दशरथ हूँ और शब्दभेदी बाण-व्यसन के कारण सरयूतट पर वन्य प्राणियों के आखेट हेतु आया था। किन्तु आपके पुत्र द्वारा घड़े में पानी भरने की आवाज को मैं भ्रमवश हाथी द्वारा अपनी सूँड़ से पानी पीने की ध्वनि समझ बैठा और शब्दभेदी बाण चला बैठा, जिससे आपके पुत्र आहत हो गए। अपनी मृत्यु के पूर्व उन्होंने आप दोनों के लिए बहुत विलाप किया और मुझे इसी पगडण्डी से आश्रम पहुँचकर आपको यह दुःखद समाचार सुनाने एवं पानी पिलाने का निर्देश दिया। मैंने उनके अनुरोध पर उनके शरीर से जैसे ही बाण निकाला, उसी समय वे चल बसे। इस प्रकार अनजान में ही मेरे द्वारा आपके पुत्र का वध हो गया। मैं इसका अपराधी हूँ। मुनिवर! अब मेरे प्रति जो भी शाप या अनुग्रह शेष हो उसे देने की कृपा करें।

**अज्ञानाद् भवतः पुत्रः सहसाभिहतो मया।**

**शेषमेवं गते यत् स्यात् तत् प्रसीदतु मे मुनिः।।**

(वा० रामायण : २.६४.१६)

दशरथ से दारुण समाचार सुनकर वृद्ध दम्पति की दशा अत्यन्त दयनीय हो गई। उनकी आँखों से आँसुओं की गंगा-यमुना बहने लगीं और वे मूर्च्छितप्राय हो गए। कुछ चेतना पाने पर वृद्ध तपस्वी ने दशरथ से कहा—

**यद्येतदशुभं कर्म न स्म मे कथयेः स्वयम्।**

**फलेन्मूर्धा स्म ते राजन् सद्यः शतसहस्रधा।।२२।।**

अर्थात् हे राजन्! यदि तुम स्वयं आकर यह पापकर्म नहीं बता जाते तो तुम्हारे मस्तक के सैकड़ों-हजारों टुकड़े हो जाते।

**क्षत्रियेण वधो राजन् वानप्रस्थे विशेषतः।**

**ज्ञानपूर्वं कृतः स्थानाच्यावयेदपि वज्रिणम्।।२३।।**

अर्थात् हे राजन्! यदि किसी वानप्रस्थ का वध किसी क्षत्रिय राजा से हो जाता है तो वह उस राजा को अपने स्थान से हटा देता है; चाहे वह वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो।

**सप्तधा तु भवेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति।**

**ज्ञानाद् विमृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि।।२४।।**

अर्थात् तपस्या में निरत ब्रह्मवादी मुनि पर जान-बूझकर शस्त्रप्रहार करनेवाले पुरुष के मस्तक के सात खण्ड हो जाते हैं।

**अज्ञानाद्धि कृतं यस्मादिदं ते तेन जीवसे।**

**अपि ह्यकुशलं न स्याद् राघवाणां कुतो भवान्।।२५।।**

अर्थात् तुमने अनजाने यह अपराध किया है, अतः तुम जीवित बचे हो; यदि जान-बूझकर यह अपराध किया गया होता तो समग्र रघुकुल ही नष्ट हो गया होता; तुम्हारी क्या बिसात है।

युवराज दशरथ को इतना सुनाने के बाद वृद्ध मुनि ने उनसे कहा कि हम दोनों वृद्धों को तुम उस स्थल पर ले चलो, जहाँ मेरा पुत्र पड़ा हुआ है। हम उसे देखना चाहते हैं, क्योंकि हमारे लिए उसके अन्तिम दर्शन होंगे।' दशरथ उन दोनों वृद्धों को अकेले ही उस स्थल पर ले गए, जहाँ उनका पुत्र मृत पड़ा था। चूँकि दोनों अन्ध थे; अतः दशरथ ने ही उनके पुत्र के शरीर का स्पर्श कराया।

अपने पुत्र के शरीर का स्पर्श कर दोनों उसपर गिर पड़े। पुत्रमरण पर पिता के विलाप का जो वर्णन वाल्मीकि ने किया है, वह अत्यन्त मर्मस्पर्शी और अन्यत्र दुर्लभ है—

नाभिवादयसे माद्य न च मामभिभाषसे।

किं च शेषे तु भूमौ त्वं वत्स किं कुपितो ह्यसि ॥३०॥

अर्थात् पुत्र! आज तुम मेरा न तो अभिवादन करते हो और न बात ही कर रहे हो। तुम भूमि पर क्यों सो रहे हो? क्या तुम हमसे कुपित हो?

नन्वहं तेऽप्रियः पुत्र मातरं पश्य धार्मिकीम्।

किं च नालिङ्गसे पुत्र सुकुमार वचो वद ॥३१॥

अर्थात् पुत्र! यदि मैं तुम्हारा प्रिय नहीं हूँ तो तुम अपनी इस धर्म-परायण माता की ओर तो देखो। तुम इसके हृदय से क्यों नहीं लग जाते? बबुआ! कुछ तो बोलो।

कस्य वा पररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयङ्गमम्।

अधीयानस्य मधुरं शास्त्रं वान्यद् विशेषतः ॥३२॥

अर्थात् अब रात्रि के पिछले पहर में कौन मुझको शास्त्र या अन्य ग्रन्थों का विशेष अध्ययन करके सुनाएगा और उन मधुर प्रसंगों को हृदयंगम बनाएगा?

को मां सन्ध्यामुपास्यैव स्नात्वा हुतहुताशनः।

श्लाघयिष्यत्युपासीनः पुत्रशोकभयार्दितम् ॥३३॥

अर्थात् अब कौन स्नान, सन्ध्योपासना तथा अग्निहोत्र करके मेरे पास बैठेगा और पुत्रशोक से पीड़ित इस वृद्ध को सान्त्वना देता हुआ सेवा करेगा?

यह ध्यातव्य है कि तापसकुमार द्विज नहीं हैं; फिर भी उन्हें शास्त्र पढ़ने और सुनाने तथा सन्ध्यावन्दन एवं अग्निहोत्र का अधिकार होने का वर्णन है। इसमें न दशरथ को कोई आपत्ति थी और न ही महर्षि वाल्मीकि को।

पुत्र के प्रति इतनी संवेदना प्रकट करने के पश्चात् पिता को अपने पुत्र के अक्षय्य पुण्य पर गर्व होता है और वे उसे आशीर्वाद देते हुए कहते हैं—

अपापोऽसि यथा पुत्र निहतः पापकर्मणा।

तेन सत्येन गच्छाशु ये लोकास्त्वस्त्रयोधिनाम् ॥४०॥

यां हि शूरा गतिं यान्ति संग्रामेष्वनिवर्तिनाः।

हतास्त्वभिमुखाः पुत्र गतिं तां परमां ब्रज ॥४१॥

पुत्र! तुम निष्पाप हो; किन्तु एक पापी ने तेरा वध किया है; इसलिए तुम मेरे सत्य के बल से शीघ्र उन लोकों को जाओ, जो अस्त्रसमरी वीरों को प्राप्त होता है। पुत्र! युद्ध में कभी पीठ न दिखानेवाले शूरों को जो गति प्राप्त होती है, वही गति तुझे भी मिले।

यां गतिं सगरः शैब्यो दिलीपो जनमेजयः।

नहुषो धुन्धुमारश्च प्राप्तास्तां गच्छ पुत्रक ॥४२॥

हे पुत्र! जो गति राजा सगर, शैब्य, दिलीप, जनमेजय, नहुष और धुन्धुमार ने पाई, वही गति तुझे मिले।

या गतिः सर्वभूतानां स्वाध्यायात् तपसश्च या।

भूमिदस्याहितेग्नेश्च एकपत्नीव्रतस्य च ॥४३॥

गोसहस्रप्रदातृणां गुरुसेवाभूतामपि।

देहन्यासकृतां या च तां गतिं गच्छ पुत्रक ॥४४॥

अर्थात् स्वाध्याय या तपस्या से जो गति सभी प्राणियों को होती है या भूदानकर्ता, अग्निहोत्री, एकपत्नीव्रती या हजार गायों का दान करनेवाले या गुरु की सेवा करनेवाले अथवा देहोत्सर्ग करनेवाले पुरुषों को जो गति मिलती है, वही गति तुझे प्राप्त हो।

तापस पिता ने करुण विलाप जारी रखते हुए कहा—

नहि त्वस्मिन् कुले जातो गच्छत्यकुशलां गतिम्।

स तु यास्यति येन त्वं निहतो मम बान्धवः ॥४५॥

अर्थात् हम-जैसे तापसों के कुल में उत्पन्न कोई व्यक्ति दुर्गति को नहीं प्राप्त कर सकता। दुर्गति तो उसे प्राप्त होगी, जिसने मेरे बान्धव-स्वरूप तुम्हारा वध किया है।

इस प्रकार वे मुनि दीनभाव से बारम्बार विलाप कर रहे थे। कुछ काल के बाद जब वे पत्नी के साथ पुत्र को जलांजलि देने के लिए प्रवृत्त हुए, तभी उनका धर्मज्ञ पुत्र अपने कर्मों के प्रभाव से दिव्य रूप धारण करके शीघ्र ही इन्द्र के साथ स्वर्ग को प्रयाण करने लगा—

स तु दिव्येन रूपेण मुनिपुत्रः स्वकर्मभिः ।

स्वर्गमध्यारुहत् क्षिप्रं शक्रेण सह धर्मवित् ॥४७॥

इन्द्र के साथ समुपस्थित उस तपस्वी बालक ने मुहूर्त-भर अपने पिता को आश्वासन देने के बाद उनसे यह विनती की— “आप दोनों की सेवा के फल से ही मुझे यह स्थान प्राप्त हुआ है, अतः आप दोनों भी शीघ्र ही मेरे पास आ जाइएगा।”

आबभाषे च तौ वृद्धौ शक्रेण सह तापसः ।

आश्वस्य च मुहूर्तं तु पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥४८॥

स्थानमस्मि महत् प्राप्तो भवतोः परिचाराणात् ।

भवन्तावपि च क्षिप्रं मम मूलमुपैष्यथः ॥४९॥

यह कहकर वह जितेन्द्रिय तापस-तनय श्रवणकुमार उस सुन्दर आकारवाले दिव्य विमान से शीघ्र ही देवलोक चला गया—

एवमुक्त्वा तु दिव्येन विमानेन वपुष्मता ।

आरुरोह दिवं क्षिप्रं मुनिपुत्रो जितेन्द्रियः ॥५०॥

तदनन्तर उस महातेजस्वी तपस्वी ने पुत्र को जलांजलि देने के बाद कृतांजलि दशरथ से कहा— “राजन्! तुम आज ही मुझे भी मार डालो; अब मरने में मुझे कोई व्यथा नहीं होगी। मेरे एक ही पुत्र था, जिसे तुमने बाण से मारकर मुझे पुत्रहीन कर दिया। तुमने अनजाने मेरे पुत्र का जो वध किया है, उस कारण मैं भी तुम्हें अत्यन्त दुःखदायी एवं दारुण शाप दे रहा हूँ—

पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन्मम साम्प्रतम् ।

एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन् कालं करिष्यसि ॥५४॥

अर्थात् राजन्! इस समय पुत्रवियोग से मुझे जैसा कष्ट हो रहा है, ऐसा ही कष्ट तुम्हें भी होगा। तुम भी पुत्रशोक से काल के गाल में समा जाओगे।

अज्ञानान्तु हतो यस्मात् क्षत्रियेण त्वया मुनिः ।

तस्मात् त्वां नाविशत्याशु ब्रह्महत्या नराधिप ॥५५॥

त्वामेयेतादृशो भावः क्षिप्रमेव गमिष्यति ।

जीवितान्तकरो घोरो दातारमिव दक्षिणाम् ॥५६॥

अर्थात् क्षत्रिय राजकुमार से एक मुनि की हत्या अनजाने हुई है; अतः ब्रह्महत्या का पाप तो नहीं लगेगा, किन्तु शीघ्र ही तुम्हें भी ऐसी ही भयानक और जीवन-हरण करनेवाली अवस्था प्राप्त होगी। जैसे दक्षिणा देनेवाले दाता को तदनु रूप फल प्राप्त होता है, वैसे ही तुम्हें भी मेरे पुत्रशोक-जनित मरण की तरह तुम्हारा भी मरण होगा।”

इस प्रकार युवराज दशरथ को शाप देने के बाद वे बहुत देर तक दिल दहला देनेवाले विलाप करते रहे। तदनन्तर वे दोनों पति-पत्नी अपने को जलती हुई चिता में डालकर स्वर्ग चले गए।

मरणासन्न दशरथ ने कौसल्या को यह आपबीती सुनाई और पुत्रवियोग में तड़प-तड़पकर प्राण त्याग दिए।

वाल्मीकि की कथा से यह स्पष्ट है कि वैश्य पिता एवं शूद्र माता से उत्पन्न वर्णसंकर ‘करण’ श्रवण को भी तपस्या का पूर्ण अधिकार था तथा वह शास्त्रों का स्वाध्याय, प्रवचन, सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र आदि किया करता था और इसमें न तो दशरथ को आपत्ति दिखाई दी, न वाल्मीकि को और न ही देवराज इन्द्र को; जो दिव्य विमान लेकर श्रवणकुमार को स्वर्ग ले जाने के लिए स्वयं आए थे।

यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि रामायण की जिस रम्या, प्रेरणामयी, आदर्श कथा की भागीरथी प्रवाहित हुई, उसका उद्गम श्रवणकुमार का उत्सर्ग है। यदि दशरथ को यह शाप नहीं मिला होता तो कदाचित् राम को वनवास नहीं हुआ होता और यदि राम का वनवास नहीं हुआ होता तो वे एक आदर्श राजा तो होते, किन्तु एक ऐसे यशस्वी महानायक नहीं होते, जिसकी गाथा सहस्राब्दियों से चलती आ रही है और जब तक इस धरती पर पर्वतों एवं नदियों का अस्तित्व रहेगा, तब तक इसका स्रोत अजस्र बना रहेगा।

श्रवणकुमार के पिता के शाप को ही व्याज बनाकर नाटककार भास ने 'प्रतिमानाटक' के छठे अंक में कैकेयी को वनवास-षड्यन्त्र के आरोप से मुक्त किया है। कैकेयी के कहने पर सुमन्त्र भरत से यह रहस्योद्घाटन करते हैं—

**सुमन्त्रः—** यदाज्ञापयति भवती। कुमार! श्रूयताम्। पुरा मृगया गतेन महाराजेन कस्मिंश्चित् सरसि कलशं पूरयमाणो वनगजबृंहितानुकारि-शब्दसमुत्पन्न-वनगजशङ्कया शब्दवेधिना शरेण विपन्न-चक्षुषो महर्षेश्चक्षुर्भूतो मुनितनयो हिंसितः।

श्रीमती जी की जैसी आज्ञा। कुमार! सुनें— बहुत पहले महाराज दशरथ शिकार को गए थे। किसी तालाब के तट पर नेत्रहीन महर्षि के चक्षुस्वरूप पुत्र (श्रवणकुमार) जब घड़े में जल भर रहे थे, तब दशरथ ने उसे बनैले गज की आवाज समझकर शब्दभेदी बाण से उस मुनिकुमार का वध कर दिया।

**भरतः—** हिंसित इति। शान्तं पापं शान्तं पापम्। ततस्ततः।

**सुमन्त्रः—** ततस्तमेवंगतं दृष्ट्वा तेनोक्तं रुदितस्यान्ते मुनिना सत्यभाषिणा। यथाहं भोस्त्वमप्येवं पुत्रशोकाद् विलप्यसे।।

**भरतः—** नन्विदं कष्टं नाम।

**भरत—** क्या कहा? मार डाला! महापाप! महापाप! इसके बाद क्या हुआ?

**सुमन्त्र—** तब सारा वृत्तान्त देख-सुनकर उस सत्यवादी मुनि ने विलाप के अनन्तर यह शाप दिया कि जिस प्रकार पुत्रशोक में मैं विलाप कर रहा हूँ, वैसे तुम भी करोगे।

**भरत—** बहुत दुःख की बात है।

**कैकेयी—** जात! एतन्निमित्तमपराधे मां निक्षिप्य पुत्रको रामो वनं प्रेषितः, न खलु राजलोभेन। अपरिहरणीयो महर्षिशापः पुत्रप्रवासं विना न भवति।

पुत्र! इसी निमित्त मैंने इस कलंक को अपने सिर पर लेकर राम को वन भेजा, न कि राज्यलोभ से। पुत्रप्रवास के बिना महर्षिशाप का परिहार नहीं हो सकता था।

यदि राम का प्रवास नहीं हुआ होता तो राजा के पुत्रशोक का कारण राम का निधन ही होता; अतः उस दारुण स्थिति को बचाने के लिए ही कैकेयी ने वनवास के कलंक को अपना अलंकार बनाया। कैसा अकाट्य तर्क है नाटककार भास का!

अध्यात्म-रामायण में भी यह कथा अयोध्याकाण्ड के सातवें सर्ग में १६ वें श्लोक से ४६ वें श्लोक तक वाल्मीकि-रामायण की कथा के आधार पर संक्षेप में वर्णित है। इसमें भी मुनिकुमार का नाम नहीं दिया हुआ है। किन्तु आनन्द-रामायण में मुनिकुमार का नाम स्पष्टतः श्रवण बताया गया है। आनन्द-रामायण के प्रथम काण्ड के प्रथम सर्ग के ८६ वें श्लोक से ६५ वें श्लोक तक श्रवण की कथा का वर्णन है। राजा दशरथ द्वारा जिस समय सरयूजल के प्रवाह को बाणों से बाँधकर वनचारी प्राणियों का आखेट चल रहा था, उसी समय श्रवण अपने बूढ़े माता-पिता को काँवर में बिठाकर अपने कन्धे पर उठाए उन्हें काशी लिये जा रहे थे।

**एतस्मिन्नन्तरे तत्र वने वाराणसीपथे।**

**करण्डस्थौ स्वपितरौ स्वस्कन्धे श्रवणो वहन्।।**

**काशीं नेतुं ययौ वैश्यो धर्मबाधाभयान्निशि।।**

(श्लोकसंख्या : ८७-८८)

तभी माता-पिता ने जल पीने की इच्छा व्यक्त की और श्रवण ने आज्ञा पाते ही काँवर को नदीतट पर जल के पास रखकर घड़े को टेढ़ाकर जल भरना प्रारम्भ किया, जिससे हाथी द्वारा जल पीने-जैसा शब्द हुआ। बनैले हाथी को नहीं मारना चाहिए, यह आप्त वचन जानते हुए भी राजा ने बाण चला ही दिया; जिससे श्रवण 'हाय! मुझको

किसने मारा' कहकर जल में गिर पड़े। यह सुनकर दशरथ व्याकुल हो गए।

**पपात श्रवणस्तोये हा केनाहं प्रताडितः ।**

**ब्रुवतश्चेति तद्वाक्यं श्रुत्वाऽभूद् विह्वलो नृपः ॥६२॥**

दशरथ दौड़कर तुरत वहाँ पहुँचे और सारा वृत्तान्त सुनकर भयभीत हो गए। उन्होंने किसी तरह श्रवण के शरीर से बाण निकाला। उनके माता-पिता को जब दशरथ के मुख से अपने पुत्र के मरण का समाचार मिला, तब उन्होंने दशरथ को भी पुत्रवियोग में मरने का शाप दिया और उनसे चिता बनवाकर मरण का वरण किया।

अध्यात्म-रामायण एवं आनन्द रामायण की कथाओं में घटना के समय दशरथ युवराज नहीं हैं, बल्कि राजा हो चुके हैं और देवासुर संग्राम में भग्न-रथ के संचालन में कैकेयी द्वारा प्रदत्त सहायता के बदले दो वर देने के वृत्तान्त के पश्चात् यह घटना होती है और कालिदास के रघुवंश में तो दशरथ चिरविवाहित होने पर भी निःसन्तान होने के कारण इस अभिशाप को वरदान ही मानते हैं—

**शापो ऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशो भे**

**सानुग्रहो भगवता मयि पातितो ऽयम् ।**

**कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो**

**बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ॥**

(६.८०)

अर्थात् हे मुनि! आज तक मुझे पुत्र के मुखारविन्द के दर्शन नहीं हो सके हैं, इसलिए आपके शाप को मैं वरदान ही समझता हूँ; क्योंकि इसी बहाने मुझे पुत्ररत्न तो प्राप्त होगा। जिस प्रकार तृणादि इन्धन से प्रदीप्त अग्नि भूमि को जलाती हुई भी बीज अंकुरित होने योग्य बनाकर उस भूखण्ड का उपकार ही करती है; उसी प्रकार आपका शाप भी मुझे पुत्र देकर मेरा उपकार ही करेगा।

ब्रह्मपुराण के रामतीर्थ-वर्णन प्रकरण (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के १२३ वें अध्याय या नाग-प्रकाशन के ब्रह्मपुराणान्तर्गत गौतमी-माहात्म्य के ५३ वें अध्याय में) तापस मुनि द्वारा दशरथ को शाप दिए जाने की कथा मिलती है। इसमें दशरथ के सुन्दर शासन का वर्णन मिलता है।

**तस्मिन् राज्ये तु स्थितेऽयोध्यापतौ मुने ।**

**वसिष्ठे ब्रह्मविच्छेष्टे पुरोधसि विशेषतः ॥५॥**

**न च व्याधिर्न दुर्भिक्षं न चावृष्टिर्न चाऽऽधयः ।**

**ब्रह्मक्षत्रविशां नित्यं शूद्राणां च विशेषतः ॥६॥**

ब्रह्माजी कहते हैं— उस अयोध्यापति राजा दशरथ के शासन में, विशेषकर ब्रह्मवेत्ता वसिष्ठ के पुरोहित रहते ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और विशेषतः शूद्र को कभी कोई व्याधि (शारीरिक रोग), दुर्भिक्ष (अकाल), अनावृष्टि या मानसिक कष्ट (आधि) नहीं होता था।

इससे स्पष्ट होता है कि इक्ष्वाकु राजाओं के राज्य में सभी वर्णों के कल्याण का विशेष ध्यान दिया जाता था। ब्रह्मपुराण की कथा के अनुसार वृद्ध पिता का नाम वैश्रवण या श्रवण था।

**वृद्धो वैश्रवणो नाम न शृणोति न पश्यति (३७);**

**नित्ये स वै श्रवणं वृद्धं सभार्यं नृपसत्तमः (७५)।**

वृद्ध पिता का नाम श्रवण होने पर षष्ठी तत्पुरुष समास से पुत्र का नाम श्रवणकुमार हो सकता है। वाल्मीकि-रामायण में श्रवण को वैश्य-पुत्र एवं शूद्रा माता से उत्पन्न बताया गया है— अध्यात्म एवं आनन्द-रामायण में पिता के वैश्य होने के कारण श्रवणकुमार को वैश्य बताया गया है। कालिदास ने उन्हें द्विजेतर माना है। द्विज का अर्थ ब्राह्मण लेने पर श्रवण भी वैश्य हो सकते हैं; किन्तु द्विज का व्यापक अर्थ लेने पर वे शूद्र ही माने जाएँगे। किन्तु इन सबों के विपरीत ब्रह्मपुराण की कथा में श्रवण को ब्राह्मण बताया गया है और

दशरथ पर ब्रह्महत्या का पाप लगाया गया है, जिसका निराकरण अश्वमेध यज्ञ और पतित-पावन राम के पुत्ररूप में जन्म से हुआ है। यहाँ भी श्रवणकुमार की मातृ-पितृभक्ति का सुन्दर वर्णन है। जब वृद्ध माता-पिता अपनी वार्धक्य-जनित अशक्तताओं को कोसते हैं, तब श्रवणकुमार का सम्यक् उत्तर है—

**मयि जीवति किं नाम युवयोर्दुःखमीदृशम् ।**

**न हरत्यात्मजः पित्रोर्यश्चरित्रैर्मनोरुजम् ॥**

**तेन किं तनुजेनेह कुलोद्वेगविधायिना ॥४२-४३॥**

अर्थात् मेरे जीते जी आप दोनों को इस प्रकार दुःखी होने का क्या प्रयोजन? जो पुत्र अपने आचरण से अपने माता-पिता की मानसिक व्यथा को दूर नहीं कर सकता, उस कुलांगार पुत्र से क्या लाभ?

अपने पुत्र की भक्ति के विषय में वृद्ध माता-पिता का यह विचार है—

**न कोऽपि तादृशः पुत्रो विद्यते सचराचरे ।**

**यः पित्रोरन्यथा वाक्यं न करोत्यपि निन्दितः ॥६४॥**

अर्थात् अखिल चराचर जगत् में इसके समान कोई पुत्र नहीं, जो डाँटने पर भी माता-पिता के कहने के विरुद्ध कोई काम नहीं करता।

अग्निपुराण, रामायण-मंजरी, कन्नड़ तोरवे रामायण, असमिया रामायण, इंडोनेशिया के सेरीराम तथा अन्य अनेक परवर्ती ग्रन्थों में श्रवणकुमार की कथा मिलती है। यद्यपि कुछ ग्रन्थों में उनका नाम यज्ञदत्त, सिन्धु, सुरेचन, ताण्डव, आदि भी मिलता है; किन्तु देश के जनमानस में यह नाम श्रवणकुमार ही है।

डा० कामिल बुल्के ने अपनी पुस्तक 'रामकथा' में एक 'श्रवण रामायण' का उल्लेख किया है, जिसमें श्रवणकुमार की मातृ-पितृभक्ति, श्रवण-विवाह तथा श्रवण-वध का वर्णन बताया गया है, किन्तु यह उल्लेख स्व० रामदास गौड़ की पुस्तक 'हिन्दुत्व' में उल्लिखित रामायणों के आधार पर है; किन्तु इसमें वर्णित अधिकतर रामायण आज उपलब्ध नहीं हैं। वाल्मीकि-रामायण, अश्वत्थ-रामायण, आनन्द-रामायण, तोरवै रामायण एवं परवर्ती साहित्य में वर्णित श्रवणकुमार-चरित इतना उदात्त रहा है कि वे इस देश में सदियों से आदर्श मातृ-पितृभक्ति के पर्याय रहे हैं। तोरवे रामायण (२, ५) में वर्णन मिलता है कि अन्धमुनि-पुत्र अपने माता-पिता को बाँस का काँवर बनाकर अपने कन्धे पर बिठाकर देश के सभी तीर्थस्थलों के दर्शन कराने ले जाते थे। काशीयात्रा अन्तिम तीर्थयात्रा थी और काशी पहुँचने के पूर्व ही यह दुर्घटना हुई थी।

श्रवणकुमार तो चल बसे; किन्तु इस देश की संस्कृति पर ऐसी अमिट छाप छोड़ गए कि मोहनदास सद्गुण बालकों को महात्मा गांधी बनने को प्रेरित कर गए। धन्य हैं वे अन्धे माता-पिता, जिन्होंने देश को ऐसा लाल दिया कि उसके कमाल से सारा स्वार्थजाल कट गया और समाज उदात्त भावनाओं की ओर उन्मुख हो गया।



T

आयाहि हृदयारण्यमसन्मतिकरेणुके ।

आयाति याति गोविन्दभक्तिकण्ठीरवी यतः ॥

अरी दुर्बुद्धि-रूपी हथिनी! मेरे हृदयरूपी जंगल में आओ; क्योंकि यहाँ कृष्ण की भक्तिरूपी सिंहनी आती-जाती रहती है।

—रोहिणीदत्त गोसाँई

T

T



## सरस्वती-कृपा से ही साहित्य-सृजन सम्भव

□ कृष्णानन्द

उज्जैन गया तो इच्छा हुई, उस स्थान को देखने की, जहाँ माँ काली के मन्दिर में बैठकर महाकवि कालिदास अपनी कालजयी साहित्यिक रचनाओं का सृजन करते थे। यह प्रसिद्ध है कि कालिदास भगवती सरस्वती की उपासना काली के रूप में ही करते थे। देखा, उसमन्दिर स्थल पर महाकाली के साथ माँ महासरस्वती और महालक्ष्मी की भी भव्य मस्तक मूर्तियाँ एक साथ स्थापित हैं।

विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की कृपा से ही साहित्य का सृजन होता है, क्योंकि ज्ञानामृत की धारा सरस्वती ही प्रवाहित करती हैं। यह सरस्वती की ही कृपा थी, जिसने महर्षि वाल्मीकि को 'आदिकवि' के नाम से प्रख्यात किया। इस सन्दर्भ की कथा के अनुसार एक बार सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी ने सरस्वती को आदेश दिया कि वे किसी योग्य पुरुष के मुख में कवित्वशक्ति होकर विराजमान रहें। सरस्वती उनके आदेशानुसार योग्य पात्र की खोज में निकल पड़ीं। उन्होंने देवलोक से लेकर सातों पातालों के निवासियों के बीच भ्रमण किया, पर उन्हें कोई भी सुयोग्य पात्र नहीं मिल सका।

इस कार्य में पूरा सत्ययुग समाप्त हो गया। त्रेतायुग प्रारम्भ हुआ, भ्रमण जारी रहा। सरस्वतीजी घूमते-घूमते आर्यावर्त पहुँच गईं। तमसा नदी के तट पर अवस्थित महर्षि वाल्मीकि का सुरम्य आश्रम शान्त था। उस समय महर्षि अपने आश्रम के समीप ही टहल रहे थे। पक्षियों का मधुर कलरव उन्हें मनलुभावन लग रहा था। पक्षियों की ओर वे निहार रहे थे। एकाएक उनकी दृष्टि,

वृक्ष की एक डाल पर रतिक्रीडारत एक क्रौंच पक्षी के जोड़े पर पड़ी। तभी एक व्याध का बाण सनसनाता हुआ आया और नर क्रौंच को जा लगा। घायल पक्षी वृक्ष से गिरकर पंख फड़फड़ाने लगा। पत्ति की वेदना से विह्वल मादा क्रौंची भी उसके समीप गिरकर चें-चें करती आर्तनाद करने लगी।

पक्षी का लोहूलुहान शरीर, कष्ट से उसकी तड़प और क्रौंची का हृदयविदारक आर्तनाद, वाल्मीकि के संवेदनशील हृदय को मर्माहत करने लगा। सरस्वती सब कुछ देख रही थी, समझ रही थीं। दूसरे की पीड़ा से पीड़ित होनेवाला मनुष्य अवश्य असाधारण योग्यतावाला ही होगा, सरस्वती वाल्मीकि की प्रतिभा को पहचान गई थी। सुयोग्य पात्र उन्हें मिल गया था और कवित्वशक्तिमयी सरस्वती अविलम्ब उनके मुख में विराजमान हो गईं।

सरस्वती की कृपा और प्रेरणा से दयामय महर्षि के मुख से उसी क्षण चार चरणों का एक श्लोक निकल पड़ा—

**मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।**

**यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥**

क्रौंची की सांत्वना के लिए कही गई शोकाकुल हृदय की वाणी सरस्वती कृपा से छन्दोमयी बन गई। इसी सन्दर्भ को स्मरण कर एक कवि ने लिखा है—

**वियोगी होगा पहला कवि,**

**आह से उपजा होगा गान।**

**निकलकर आँखों से चुपचाप,**

**बही होगी कविता अनजान॥**

प्रसिद्ध साहित्यिक कृति और धर्मग्रन्थ रामायण की रचना भी महर्षि वाल्मीकि ने सरस्वतीजी की प्रेरणा से ही की थी, जिसकी पुष्टि आद्यशक्ति ने स्वयं की थी। इस तथ्य को महर्षि व्यास के समक्ष स्वयं सरस्वती स्वीकार करती हैं। बृहद्धर्मपुराण के अनुसार एक बार महर्षि व्यास से प्रसन्न होकर सरस्वती ने कहा था—

**पठ रामायणं व्यास काव्यबीजं सनातनम्।**

**यत्र रामचरितं स्यात् तदहं तत्र शक्तिमन्॥**

(बृहद्धर्मपुराण : १.३०.४७)

(व्यास! तुम मेरी प्रेरणा से रचित वाल्मीकि-रामायण पढ़ो। वह मेरी शक्ति के कारण सभी काव्यों का सनातन बीज बन गया है। उसमें श्री रामचरित के रूप में मैं साक्षात् मूर्तिमती शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हूँ।)

इन सब दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि साहित्य का सृजन सरस्वती की कृपा से ही होता है। विद्या को सभी धर्मों में प्रधान धन कहा गया है, इस धन को न कोई चुरा सकता है, न कोई क्षय कर सकता है। सरस्वती की जिसपर कृपा होती है, वही ज्ञानी, विज्ञानी, मेधावी, महर्षि, ब्रह्मर्षि, विद्वान् ओर साहित्य-सर्जक हो जाता है। इसीलिए विद्वानों को लोग सरस्वतीपुत्र कहते हैं।

सरस्वती संगीत शास्त्र की भी अधिष्ठात्री देवी हैं, क्योंकि इनका स्मरण सात प्रकार के स्वरों द्वारा किया जाता है। सप्तविध स्वरों का ज्ञान प्रदान करने के कारण ही इनका नाम सरस्वती है। ये सभी संशयों का नाश कारनेवाली और बोधस्वरूपिणी हैं।

सम्पूर्ण संसार की मूलभूत आद्याशक्ति के तीन स्वरूपों में एक हैं महासरस्वती तथा अन्य महाकाली और महालक्ष्मी के नाम से विख्यात हैं। वाणी और विद्या की अधिष्ठात्री देवी सत्त्वगुण

सम्पन्न सरस्वती चन्द्रमा के समान गौर वर्ण की हैं और कई नामों से विख्यात हैं। इनके प्रसिद्ध नाम हैं— महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, आर्या, ब्राह्मी, शारदा, वेदगर्भा, धीश्वरी (बुद्धि की स्वामिनी), वाचा, वागीश्वरी, सोमलता, वाग्देवी आदि। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १२५ सूक्त के तृतीय मन्त्र में कहती हैं, मैं वाग्देवी जगदीश्वरी और धन प्रदात्री हूँ। मैं ज्ञानवती एवं यज्ञोपयोगी देवों में सर्वोत्तम हूँ। मेरा स्वरूप विभिन्न रूपों में विद्यमान है तथा मेरा आश्रय-स्थान विस्तृत है। सभी देव विभिन्न प्रकार से मेरा ही प्रतिपादन करते हैं।

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।

तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्यात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥

(ऋग्वेद : १०.१२५.३)

भगवती सरस्वती का एक नाम कौशिकी भी है, क्योंकि पूर्वकाल में शुम्भ, निशुम्भ तथा धूम्रलोचन का संहार करने के लिए सरस्वती, देवी पार्वती के शरीरकोष से प्रकट हुई थीं। 'देवी भागवत' के अनुसार सरस्वतीजी भगवान् श्रीकृष्ण की जिह्वा के अग्रभाग से प्रकट हुईं और श्रीकृष्ण ने उन्हें भगवान् नारायण को समर्पित कर दिया। यह श्रीकृष्ण ही थे, जिन्होंने संसार में सरस्वतीजी की पूजा प्रचारित की। भगवान् नारायण ने सरस्वतीजी को एक अंश से नदी, एक अंश से ब्रह्माजी के पास तथा शेष अंश से उनके ही पास रहने को कहा। भगवान् के आदेशानुसार सरस्वतीजी भारतवर्ष में अंशतः अवतीर्ण होकर 'भारती' कहलाईं। वहीं वे दूसरे अंश से ब्रह्माजी की पत्नी होने के कारण 'ब्राह्मी' नाम से प्रसिद्ध हुईं।

इन नामों के अतिरिक्त, सरस्वतीजी की द्वादश नामावली भी प्रसिद्ध है, जिसके नित्य पाठ करने से मान्यता है कि सरस्वतीजी उस मनुष्य की जिह्वा पर विराजमान हो जाती हैं—

प्रथमं भारती नाम द्वितीयं च सरस्वती।  
तृतीयं शारदा देवी चतुर्थं हंसवाहिनी॥  
पञ्चमं जगती ख्याता षष्ठं वागीश्वरी तथा।  
सप्तं कुमुदी प्रोक्ता अष्टमं ब्रह्मचारिणी॥  
नवमं बुद्धिदात्री च दशमं वरदायिनी।  
एकादशं चन्द्रकान्तिःद्वादशं भुवनेश्वरी॥  
द्वादशैतानि नामानि त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नरः।  
जिह्वाग्रे वसति नित्यं ब्रह्मरूपा सरस्वती॥

सरस्वतीजी को प्रसन्न करने के कई मन्त्र बताए गए हैं। एक सबीज दशाक्षर-मन्त्र है— 'ऐं वाग्वादिनी वद वद स्वाहा', जो सर्वार्थ-सिद्धिप्रद तथा सर्वविद्या-प्रदायक कहा गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार उनका एक मन्त्र है— 'ॐ ऐं ह्रीं क्लीं सरस्वत्यै बुधजन्यै स्वाहा।' भगवान् नारायण द्वारा वाल्मीकि को उपदिष्ट अष्टाक्षर मन्त्र है— 'श्रीं ह्रीं सरस्वत्यै स्वाहा।'

यद्यपि शास्त्रों में भगवती की अराधना व्यक्तिगत रूप से करने का विधान बताया गया है, तथापि आजकल पूजा-पण्डालों में सरस्वतीजी की प्रतिमा स्थापित कर सार्वजनिक पूजा का प्रचलन हो गया है। परम्पराएँ सदा बदलती रहती हैं और समयानुकूल बदलती रहेंगी। सरस्वती की पूजा एवं आराधना के लिए माघ मास के शुक्लपक्ष की पंचमी तिथि शास्त्र द्वारा निर्धारित की गई है, क्योंकि वसन्तपंचमी को इनका आविर्भाव-दिवस माना गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रकृतिखण्ड ४.३४ के अनुसार सरस्वतीजी की इस वार्षिक पूजा के साथ ही बालकों के अक्षरारम्भ एवं विद्यारम्भ का विधान बताया गया है—

माघस्य शुक्लपञ्चम्यां विद्यारम्भदिनेऽपि च।

पूर्वेऽह्नि संयमं कृत्वा तत्राह्नि संयतः शुचिः॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अमित तेजस्विनी और अनन्त गुणशालिनी भगवती सरस्वती की महिमा और प्रभाव अपरम्पार है, वे ही विद्या, बुद्धि, ज्ञान और वाणी की अधिष्ठात्री देवी हैं, वे

ही सर्वदा शस्त्रज्ञान को देनेवाली तथा शब्दब्रह्म के रूप में स्तुत हैं और साहित्य का सृजन उन्हीं की कृपा से होता है।

'प्रतिभालोक', आनन्दपुरी,  
पश्चिम बोरिंग कैनल रोड, पटना- १



### माँ! मुझे बस यही वर दे

स्वार्थ का हथियार लेकर निन्द्य राक्षस हो न जाऊँ,  
पुण्यबल से प्राप्त कर स्वर्गीय सुख में खो न जाऊँ,  
ग्रहण कर संन्यास अपनी नियति को मैं धो न जाऊँ,  
या अपाहिज बन कदाचित् मृत्युशय्या सो न जाऊँ,  
आत्मभक्तों की सरणि पर युगल मेरे चरण कर दे,  
माँ! मुझे बस यही वर दे।

छीन ले कोई न मुझसे पुत्रता का दाय पावन,  
मनस्विता-जनकात्मजा को हर न पाए आज रावन,  
जेठ की दुपहरी भी लगती रहे नित मास सावन,  
मरुमही या शैलश्रेणी लगे समतल मनोभावन,  
भक्ति की धारा जिधर की, उधर मेरी नाव कर दे,

माँ! मुझे बस यही वर दे।

मैं उपज तेरी कि तेरे ही लिए आया यहाँ पर,  
जो मिला वह है दिया तेरा सदा पाया यहाँ पर,  
एक तिलभर भी कमाई का नहीं लाया यहाँ पर,  
मातृ-ऋण पूरा किसी ने है चुकाया क्या यहाँ पर,  
बोझ हल्का कर सकूँ कुछ मात्र इतनी शक्ति भर दे,

माँ! मुझे बस यही वर दे।

द्वार किनका खटखटाऊँ चरण ही तेरे शरण हों,  
कल्पना में भी नए आराध्य का मत संवरण हों,  
देशसेवा में अहर्निश पंचतत्त्वों का क्षरण हो,  
प्राण का तेरे लिए ही पल-विपल भी संचरण हो,  
अन्त में जिस गोद का हूँ उसी में सस्नेह धर दे,  
माँ! मुझे बस यही वर दे।

— मार्कण्डेय शारदेय

## शारदा-शतनाम

नमः श्रीशारदादेव्यै॥

ईश्वर उवाच

नमामि शारदां देवीं शुद्धतत्त्वस्वरूपिणीम्।  
शतनाम प्रवक्ष्यामि सद्यःसिद्धिकरं नृणाम्॥१॥

श्रीशंकरीं शकलचन्द्रविभूषणाढ्यां शार्दूलचर्मवसनां शशिशेखरान्ताम्।  
शक्रध्वजां शरणपालिनिशब्दरूपां शर्वेश्वरीं शिवरतां शितिकण्ठपूज्यां॥२॥

शापानुग्रहकारिणीं शशिनिभां शालेश्वरीं शारदां  
शालूकप्रियतोषिणीं शिशुरतां शाक्तप्रियां शीतलाम्।  
शिल्पज्ञां शिखिनृत्यमोदरुचिरां शिष्यां शिलाकन्दरां  
शुभ्रां शुभ्रविलेपनीं शुचिमतीं शुम्भादिदैत्यादिनीम्॥३॥

शान्तां शान्तिविवर्द्धिनीं शशिकलां शुक्लाम्बरांहादिनीं  
शीलां शीतकनाशिनीं शशिनिभां शंख्यां च शक्तिप्रदाम्।  
शंखाभां शुचिज्ञानदां च शरणां श्यामां च शाक्तप्रियां  
शक्रानन्दविवर्द्धिनीं शुभकरीं शाकम्भरीं शाल्मलीं॥४॥

शाकुन्ताधिपगामिनीं श्रुतवतीं शैलेश्वरीं शेखरां  
शव्यां शंखनिनादमोदरुचिरां शास्त्रानुगां शालिनीम्।  
शालग्रामकृतालयां शशिमुखीं शुक्रार्चितां शान्तिदां  
शास्त्रज्ञां शतरूपिणीं श्रुतिमतीं शत्यां च शाक्तप्रदाम्॥५॥

शर्वाणीं शिखिवाहिनीं शृणिधरां शामार्चितां शंखिनीं  
शुश्रूषां शितिकण्ठपूजनपरां शान्तस्वरूपां शुकाम्।  
शाटीभूषणभूषितां शरणदां शापोपहन्त्रीं परां  
शुद्धां शारदचन्द्रकान्तिनिवहां श्रीबीजतत्त्वात्मिकाम्॥६॥

शिरीषवनवासिनीं शिशिरनाशिनीं शाम्भवीं  
शचीपतिपदार्चितां शिविरवासिनीं शर्वरीम्।  
शनैश्चरनुतां सदाशालभरूपिणीं शिल्पिनीं  
शिखीवनविनोदिनीं शिखरवासिनीं शम्बरीम्॥७॥

शरभेश्वरपूजितां सदा शतपुष्पां शतपत्रवासिनीम्।  
शरचापविभूषणां सदा 'शरजू'तीरनिवासिनीं शयाम्॥८॥

शक्रार्चितां शक्तिरतां शीघ्रबुद्धिविवर्द्धिनीम्।  
शुभ्रवस्त्रपरीधानां शुभ्रपुष्पार्चितां शुभाम्॥९॥



## उपनिषदों में प्रतिपादित आत्मा एवं ब्रह्म

□ डा० रामविलास चौधरी

भारतीय वाङ्मय का प्राचीनतम साहित्य वैदिक साहित्य है और इसका आदिम ग्रन्थ है—ऋग्वेद। चारों वेदों में आध्यात्मिक एवं सांसारिक विषयों का वर्णन है। इन वेदों के रचनाकाल के बारे में मतभिन्नता होने के विषय में भी ईसा से हजारों वर्ष पहले रचित होने पर प्रायः सभी विद्वान् सहमत हैं। इतना पुरातन होने पर भी आधुनिक विद्वान् ज्ञान की हर विधा का आदिम स्रोत इस साहित्य में खोजने के उत्सुक देखे जाते हैं। भारत की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक विषयों को ही नहीं, अपितु वैज्ञानिक चिन्तन की भी प्राचीन पद्धति की जानकारी वेदों से मिलती है।

आलोचकों के अनुसार वेद का मुख्य लक्ष्य उस समय प्रचलित यज्ञों के सम्पादन की विधि बताना है। ये यज्ञ भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों विधियों से सम्पादित होते हैं। भौतिक यज्ञ के स्वरूप-विवेचन के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई, जबकि आध्यात्मिक चिन्तन के लिए उपनिषद् ग्रन्थ रचे गए। वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग होने के कारण उपनिषदों को वेदान्त भी कहा जाता है। यहाँ इस पर कुछ विचार-विन्दु प्रस्तुत हैं।

‘उप’+‘नि’ उपसर्ग पूर्वक ‘षद्’ लृ विशरणगत्यवसादनेषु’ धातु से कर्ता अर्थ में ‘क्विप्’ प्रत्यय आने पर ‘उपनिषद्’ शब्द निष्पन्न होता है। सद् (षद्) धातु के तीन अर्थ बताए गए हैं— विशरण=विनाश होना, गति=पाना, अवसादन=

शिथिल होना। इस प्रकार जो विद्या सांसारिक मोह-माया को नष्ट कर देती है, ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है, और जन्म-मरण के बन्धन को शिथिल कर देती है, उसे उपनिषद् कहते हैं। ईशवास्योपनिषद् की भूमिका में शंकराचार्य के वचन हैं—

उपनिषादति सर्वानर्थकरं संसारं  
विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च  
शिथिलयति, ब्रह्म च गमयतीति उपनिषद्।

इस कथन से ज्ञात होता है कि शंकराचार्य के अनुसार ‘उपनिषद्’ शब्द का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या है और गौण अर्थ में यह शब्द ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ का भी बोध कराता है। इस तरह स्पष्ट है कि अध्यात्म की शिक्षा देनेवाला ग्रन्थ उपनिषद् है—

तस्माद् विद्यायां मुख्यया वृत्त्या उपनिषद्  
शब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भवत्या।

(कठोपनिषद्-भाष्य)

उपनिषदों की संख्या के बारे में विद्वानों के बीच मतभिन्नता देखी जाती है, किन्तु इनकी महिमा और गरिमा विवादरहित है। मुक्तिकोपनिषद् में उपनिषदों की संख्या १०८ कही गई है, जबकि ‘वाक्य महाकोश’ में २२३ उपनिषदों का उल्लेख है। भारतीय विद्या के प्रमुख अधीती विद्वान् कोलब्रुक ने ५२ उपनिषदों का एक संग्रह सम्पादित किया था, किन्तु भारतीय मनीषियों ने उन्हीं उपनिषदों को प्रामाणिक माना है, जिनपर शंकराचार्य के

भाष्य उपलब्ध हैं। ऐसे उपनिषदों की संख्या दस है। मुक्तिकोपनिषद् में उनके नाम इस प्रकार हैं—

**ईश-क्वेन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरिः।**

**ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश॥**

ये सभी उपनिषद् विभिन्न संहिताओं से सम्बद्ध हैं। उपनिषदों की बहुसंख्यात्मकता के कारण अनेक तत्त्वज्ञानियों द्वारा विभिन्न समय में व्यक्त किए गए सिद्धान्त इनमें निरूपित हैं, फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन उपनिषदों में कुछ ऐसे दार्शनिक चिन्तन हैं, जिनके अन्तःप्रवाह में समरूपता पाई जाती है। इनके कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं, जिनका प्रतिपादन सर्वत्र देखा जाता है।

उपनिषदों के आधारभूत सिद्धान्तों में, जो प्रायः सभी में उपलब्ध हैं, विश्व का ब्रह्मरूप और ब्रह्म का आत्मरूप प्रमुख रूप से प्रतिपादित हैं। इस तरह उनका सम्पूर्ण मनन-चिन्तन ब्रह्म और आत्मा-सम्बन्धी विचारों पर केन्द्रित है। ऋग्वेद के 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' शब्द कालान्तर में आत्मा और परमात्मा के बोधक बन गए। इनमें ऐक्य बताना उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य है। अतः इनका मुख्य विवेच्य विषय आत्मविद्या है। इनके अन्तर्गत आत्मा, ब्रह्म, जीव, जगत्, पुनर्जन्म तथा नैतिक आदर्श आदि महत्त्वपूर्ण तथ्यों का निरूपण है।

**आत्मतत्त्व :** 'आत्मन्' शब्द को निष्पत्ति 'अन प्राणने' धातु से विहित है। अतः इसका अर्थ है प्राण। ऋग्वेद में यह शब्द वायु अथवा श्वास का पर्याय है तो ब्राह्मणों में यह जीवात्मा का बोधक है। शंकराचार्य इस शब्द की व्युत्पत्ति में कहते हैं—

**यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।**

**यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥**

(कठोपनिषद्-शांकरभाष्य : २.१.१)

अर्थात् जो सर्वत्र व्याप्त है, सबको अपने में ले लेता है, विषयों का भोग करता है और इसका अस्तित्व सदा रहता है। इन्हीं कारणों से इसे आत्मा कहते हैं।

कठोपनिषद् में आत्मा को अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पुरातन और शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होनेवाला कहा गया है—

**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥**

(१.२.१८)

माण्डूक्योपनिषद् में 'ओ३म्' को ही आत्मा कहा गया है।

**ब्रह्मतत्त्व :** वैदिक साहित्य में संहिताकाल से ही 'ब्रह्मन्' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। 'बृहि वृद्धौ' धातु से 'ब्रह्मन्' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है— वर्धनशील। मध्वाचार्य के अनुसार जिसमें बृहत् रूप से गुण रहते हैं (बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणाः), वही ब्रह्म है। ब्रह्म का अर्थ है— व्यापक अर्थात् जो सबमें व्याप्त है। कालक्रमानुसार ब्रह्म शब्द का अर्थ परिवर्तित होता गया। संहिता (यजुर्वेदसंहिता : २२.२२) में यह शब्द महान् शक्तिशाली परमेश्वर के अर्थ में प्रयुक्त है, जबकि ब्राह्मणकाल (शतपथ ब्राह्मण : ७.१.१.५) में इसका अर्थ मन्त्र (ब्रह्म वै मन्त्रः) एवं यज्ञ (ब्रह्म वै यज्ञः) हो गया। उपनिषत्काल में जगत् का आधार या मूल कारण ही ब्रह्म को कहा जाने लगा। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि जिससे सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं तथा अन्त में जिसके निकट जाते हैं और जिसमें लीन हो जाते हैं, वही ब्रह्म है—

**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति... तद् ब्रह्मेति।**

(तैत्तिरीयोपनिषद् : ३.१)

उपनिषदों में 'ब्रह्म' पर बहुलता से विचार हुआ है। कठोपनिषद् में अश्वत्थ वृक्ष के माध्यम से ब्रह्म के स्वरूप के विषय में कहा गया है कि उस सनातन अश्वत्थ वृक्ष की जड़ ऊपर की ओर तथा शाखा नीचे की ओर है। वह शुद्ध, शुभ्र ब्रह्म अमृतरूप है। समस्त लोक उसमें आश्रित हैं तथा उससे भिन्न कुछ नहीं है—

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।  
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।  
एतद्वै तत्।

(कठोपनिषद् : ३.२१)

यहाँ अश्वत्थ वृक्ष से संसाररूप वृक्ष का और ब्रह्म से उसके मूल का संकेत है। मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म को अमृतस्वरूप तथा आगे, पीछे, दाएँ, बाएँ, ऊपर, नीचे सर्वत्र व्याप्त बताया गया है—

ब्रह्मैवममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।  
अधश्चोर्ध्वं च प्रसूतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

(मुण्डकोपनिषद् : २.११)

उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन दो रूपों में मिलता है। ब्रह्म के बारे में सविशेष श्रुतियाँ और निर्विशेष श्रुतियाँ दोनों उपलब्ध होती हैं। कहीं उसे अविशेष या सगुण कहा गया है तो कहीं निर्विशेष या निर्गुण। सगुण ब्रह्म को 'अपर' ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म को 'पर' ब्रह्म कहा गया है। अपर ब्रह्म रूप में ब्रह्म सविशेष, सगुण, सविकल्प नित्य, विभु, सर्वज्ञ और सर्वनियन्ता है। वही इस जगत् का स्रष्टा, रक्षिता और संहर्ता है तथा सोपाधि होने से वर्णनीय है। पर ब्रह्म रूप में ब्रह्म निर्विशेष, निर्गुण, निर्विकल्प, निष्प्रपंच और सच्चिदानन्द रूप है। वह वाणी और मन से परे और निरुपाधि होने से अनिर्वचनीय है।

सन्त शिरोमणि तुलसीदासजी निर्गुण और सगुण में अभेद बताते हुए कहते हैं—

अगुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा।  
गावहिं सन्त पुरान औ' वेदा॥

दक्षसुता सती ने जब देखा कि जगद्-वन्दनीय शंकरजी दशरथपुत्र राम को 'जय सच्चिदानन्द' कह कर प्रणाम करते हैं, तब उन्हें भी संशय होने लगा कि जो ब्रह्म सर्वव्यापक, माया से परे, अजन्मा, अगोचर, इच्छारहित और भेद से अलग है और जिसे वेद भी नहीं जानते, क्या वह देहधारी मनुष्य हो सकता है—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।  
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेदा॥

(मानस : १.५०)

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है कि सगुण और निर्गुण— ये दोनों ही एक तत्त्व (ब्रह्म) के दो रूप हैं। एक ओर उसे सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, कर्माध्यक्ष तथा साक्षी कहा गया है तो दूसरी ओर उसे ही निर्गुण बताया गया है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।  
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

(६.११)

ब्रह्म और आत्मा : संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्म और आत्मा भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु उपनिषदों में ये दोनों समानार्थक या पर्यायवाची हो गए हैं। ब्रह्म और आत्मा का तादात्म्य उपनिषदों की एक महान् उपलब्धि है। विषयी और विषय, द्रष्टा और दृश्य तथा प्रमाता और प्रमेय दोनों में एक ही तत्त्व प्रकाशित हो रहा है, जो दोनों में व्याप्त है और दोनों के पार भी है। जीवात्मा में जो शुद्ध चैतन्य भासित हो रहा है, वही ब्रह्म रूप से इस समस्त विराट् बाह्य जगत् में भी व्याप्त है। जो व्यष्टि की आत्मा है, वही समष्टि

की आत्मा है। जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। दोनों के ऐक्य से परम तत्त्व की स्वतः सिद्ध सत्ता और विश्वरूपता व्यक्त होती है।

आत्मा और ब्रह्म के इस ऐक्य का प्रतिपादन छान्दोग्योपनिषद् में इस रूप में किया गया है—

**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं यत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।**

अर्थात् वह जो यह अणिमा है, एतद्रूप ही यह सब है। यह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है।

माण्डूक्योपनिषद् में भी ओंकार को सम्पूर्ण जगत् का उपाख्यान बताते हुए कहा गया है—

**सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म।**

अर्थात् यह सब-का-सब ब्रह्म ही है। यह आत्मा ब्रह्म है। बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य के प्रतिपादन को ही समस्त वेदान्तों का अनुशासन बताया गया है—

**तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानु भूरित्यनुशासनम्।**

अर्थात् यह ब्रह्म अपूर्व (कारणरहित) अनपर (कार्यरहित), अनन्तर (विजातीय द्रव्य से रहित) और अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है। यही समस्त वेदान्तों का अनुशासन (उपदेश) है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अध्यात्मविद्या के विवेचन करनेवाले उपनिषद् ग्रन्थों में आत्मतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व पर विस्तार से विवेचन हुआ है। इनके ऐक्य के ज्ञान से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। यह अमृतत्व सांसारिक सम्पत्तियों-जमीन, मकान तथा सोना-चाँदी से ऊपर है। आत्मतत्त्व की साधना करनेवालों के लिए ये सभी भोग्य वस्तुएँ निरर्थक हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् में एक आख्यान आया है, जिसके अनुसार महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी भार्या मैत्रेयी से कहा कि मैं इस गृहस्थाश्रम से

ऊपर संन्यास आश्रम में जाना चाहता हूँ। इसमें तेरी अनुमति चाहता हूँ। इसलिए आवश्यक है कि अपनी दूसरी भार्या कात्यायनी के साथ तुम्हारा बँटवारा भी हो जाए। तुम दोनों के बीच अपनी सम्पत्ति का मैं विभाजन कर देना चाहता हूँ। वैसा करके मैं चला जाऊँगा।

उनकी इस बात को सुनकर मैत्रेयी ने गम्भीरतापूर्वक कहा— “भगवन्! धन से सम्पन्न सारी पृथ्वी यदि मेरी हो जाए तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमर हो सकती हूँ—”

**सा होवाच मैत्रेयी यत्रु म इयं भगोः।**

**सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति॥**

(बृहदारण्यकोपनिषद् : २.४.२)

याज्ञवल्क्य ने कहा— “नहीं; यह तो सम्भव नहीं है। लोक में नाना सामग्रियों से सम्पन्न लोगों का जीवन भोगों से जैसा सुखकारी होता है, वैसा ही तुम्हारा जीवन भी होगा।” महर्षि की बात सुनकर मैत्रेयी ने तुरत कहा—

**येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्। यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति।**

(बृहदारण्यकोपनिषद् : २.४.३)

अर्थात् जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उस धन-सम्पत्ति को लेकर मैं क्या करूँगी? आप जो कुछ अमरत्व का साधन जानते हैं, वही मुझे बताएँ।

इस आख्यान से स्पष्ट है कि वैदिक काल में स्त्रियाँ भी ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्राप्त करती थीं। उस काल में ब्रह्मतत्त्व और आत्मतत्त्व में अभेद माना जाता था। “अहं ब्रह्मास्मि” (मैं ब्रह्म हूँ), “सोऽहम्” (वह मैं हूँ) इत्यादि महवाक्यों से आत्मा और ब्रह्म में एकत्व का प्रतिपादन किया गया है।

प्रोफेसर क्वार्टर, रानीघाट,  
पटना





## धरती, संस्कृति और भाषा: राष्ट्रीयता की पहचान के तीन तत्त्व

□ प्रो० रामाश्रय प्रसाद सिंह

धरती, संस्कृति और भाषा, राष्ट्रीयता की पहचान के तीन प्रधान तत्त्व मानी जाती हैं। ये तीनों मिलकर ही किसी राष्ट्र को आकार देती हैं, किसी स्वतन्त्र देश की पहचान कराती हैं। अपनी धरती, अपनी संस्कृति और अपनी भाषा का जहाँ महत्त्व नहीं है, वहाँ राष्ट्र नहीं है। ध्यान रहे; राष्ट्र जमीन का टुकड़ा मात्र नहीं है; वह नदियों, पहाड़ों, जंगलों आदि का समूह भर नहीं है। वह एक जीवन्त शक्ति है, एक प्राणमयी चेतना है, जो अपने ऊपर बसनेवाले जनों के हृदय में नई शक्ति, नई ऊर्जा एवं नई चेतना विकसित करती है। जन-जन के मन में आत्मीयता का बोध कराती है।

किन्तु अत्यन्त दुःख एवं क्षोभ के साथ कहना पड़ता है कि आज अपने राष्ट्र में धरती, संस्कृति एवं भाषा तीनों के प्रति उपेक्षा एवं अनादर का भाव व्याप्त है। वह दिव्य भावना, वह आत्मीयता तथा वह संवेदनशीलता जो अति प्राचीनकाल से ही आर्यजन में धरती, संस्कृति तथा भाषा के प्रति विद्यमान थी, लुप्त होती जा रही है। दिव्य भारतभाव, बृहत् राष्ट्रभाव हमारे हृदय से समाप्त होता जा रहा है। हमारे लोकतन्त्र के आधार को कमजोर करनेवाली कुरीतियाँ, कुण्ठाएँ और कुप्रवृत्तियाँ राष्ट्र में बड़ी तेजी से पनप रही हैं, आगे बढ़ रही हैं। राष्ट्र एवं राष्ट्रजन के प्रति; धरती, संस्कृति एवं स्वभाषा के प्रति भारतीय ऋषियों-मनीषियों तथा आर्यमेधा-मनीषा ने जो आचार-संहिता प्रस्तुत की थी, उसे अपने

ही लोगों द्वारा नकारा जा रहा है तथा विजातीय एवं विदेशी विकृतियों की कलमें इस जमीन में रोपी जा रही हैं। वह प्रकाशमयी प्रकृष्ट परम्परा जो मानव-मांगल्य की महनीय एवं उदात्त प्रेरणा से आविर्भूत हुई थी, बाहरी दबावों से विकलांग और विरूप होती जा रही है।

भारत एक महान् राष्ट्र है, राष्ट्र ही नहीं महाराष्ट्र है, प्राणमय राष्ट्र है, जीवन्त शक्तिसम्पन्न दिव्य राष्ट्र है। यहाँ के जन की अपनी धरती, अपनी विकसित संस्कृति और अपनी उदात्त भाषा है, जो सृष्टि के प्रारम्भ से ही पूर्ण प्रतिष्ठित है।

मानवीय मूल्यों की भित्ति पर आधारित हमारी राष्ट्रीयता सर्वमंगला संस्कृति को वैदिकयुग से ही बिम्बित करती आ रही है। मानवीय मूल्यों के साथ लोकतान्त्रिक मूल्यों का समन्वय कर उदात्त राष्ट्रीयता की जो आधारशिला रखी गई थी, जिसमें त्याग, सेवा, स्नेह, सहिष्णुता और सामाजिक संसक्ति के पंचप्राण डाले गए थे, उस आधार को ही अन्धी अनुकृति तथा आधुनिकता की आत्यन्तिक कुदालों के कुप्रहार से खोदकर तोड़ा जा रहा है और खूबी यह कि यह घृणित कार्य छद्म सेकुलरवाद, समाजवाद और तथाकथित प्रगतिवाद के नाम पर किया जा रहा है।

आइए; हम शान्त एवं एकान्त चित्त से राष्ट्रीयता की पहचान के तीन तत्त्वों— धरती, संस्कृति और भाषा के सम्बन्ध में गम्भीरता से थोड़ा चिन्तन करें और सन् २०२० तक के महान् एवं सब प्रकार से सम्पन्न भारत के महामहिम

राष्ट्रपति ए०पी०जे० अब्दुल कलाम के सपने एवं आह्वान को साकार करने का प्रयास करें।

अपनी मातृभूमि से, अपनी धरती से आत्मीयता एवं गहरा लगाव ही राष्ट्रीयता का, राष्ट्रभक्ति का मूल मन्त्र है। यह लगाव, अपनापन का यह भाव जितना ही गाढ़ा होगा, गहरा होगा; राष्ट्रभाव उतना ही उदात्त, उतना ही दिव्य और उतना ही महिमावान् होगा। अपनी धरती, अपनी जन्मभूमि के प्रति जन के इस लगाव का, अपनापन के इस भाव का एक बड़ा ही दिव्य उदाहरण मिलता है— आदिकाव्य रामायण में। ससैन्य रावण-विजय के पश्चात् लंकेश विभीषण की प्रार्थना पर अनुज लक्ष्मण ने अपने भ्राता श्रीराम से एक विनम्र अनुरोध किया— तात! स्वर्णमयी लंका अद्भुत सुन्दर नगरी है। आप चलकर एक दृष्टि डालें। उस समय श्रीराम ने उत्तर दिया—

**अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।**

**जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥**

अर्थात् हे लक्ष्मण! यह सत्य है कि लंका स्वर्ण से निर्मित है, पर यह मुझे नहीं भाती। अपनी जननी एवं अपनी जन्मभूमि दोनों स्वर्ग से भी श्रेष्ठ हैं, सुन्दर हैं।

कितना गहरा लगाव है रामभद्र का अपनी मातृभूमि से, अपनी जन्मभूमि से, अयोध्या की भूमि से! आर्यमन का, भारत की श्रेष्ठ सन्तान का कैसा दिव्य भाव है अपनी माता और मातृभूमि के साथ! जननी और जन्मभूमि के प्रति कितनी गहरी निष्ठा है यह! श्रीराम का यह दिव्य कथन भारतीय मन का स्वभाव बन गया, जन-जन का सद्भाव बन गया। आज के सन्दर्भ में श्रीराम का यह कथन कितना प्रासंगिक है!

इस महान् राष्ट्र में जन्म लेने की सार्थकता इसी बात में है कि हम अपनी धरती के प्रति, अपनी जन्मभूमि के प्रति श्रीराम का-सा दिव्य

भाव रखें। इस अवसर पर कविवरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक राष्ट्रगीत की दो पंक्तियों का स्मरण हो रहा है—

**सार्थक जन्म आमार जन्मेछि ए देशे।**

**सार्थक जन्म मागो, तोमाय भालो बेसे॥**

अर्थात् मातः! मेरा जन्म सार्थक है, जो इस देश में उत्पन्न हुआ हूँ। मेरा जन्म सार्थक है, जो मैं तुझे प्यार कर रहा हूँ।

मातृभूमि के प्रति अहैतुक प्रेम का अद्भुत गीत है यह!

वैदिक साहित्य में मातृदेवी की बड़ी प्रतिष्ठा है। यह मातृदेवी ही श्री हैं, लक्ष्मी हैं, पृथ्वी हैं। 'अथर्ववेद' के बारहवें काण्ड में 'पृथ्वीसूक्त' मिलता है। इस 'पृथ्वीसूक्त' में बड़ी श्रद्धा से धरतीमाता का दिव्य गुणगान किया गया है। जिस भूमि में मानव का जन्म हुआ है, जिस भूमि पर वह जन्म के पश्चात् रहता है, जिस भूमि से उत्पन्न अन्न-जल को ग्रहण कर वह जीवन धारण करता है, उस भूमि के प्रति उसके कुछ कर्तव्य होते हैं। इन्हीं कर्तव्यों तथा पृथ्वी के प्रति उसकी आस्था का बड़ा ही भावमय एवं दिव्य वर्णन इस 'पृथ्वीसूक्त' में किया गया है।

इसी 'पृथ्वीसूक्त' के बारहवें मन्त्र में एक छोटा-सा, किन्तु बड़ा ही दिव्य मन्त्र आया है—  
**“माता भूमिः पुत्रः अहम् पृथिव्याः।”** अर्थात् भूमि मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ। **“पर्यन्तः पिता स उ नः पिपर्तु।”** अर्थात् यह मेघ जो पृथ्वी को वर्षा से तर करके अन्नआदि उत्पन्न करता है, वह मेरा पिता है। माता एवं सन्तान का यह आत्मीय सम्बन्ध ही धरती से जन को बाँधे रहता है। जिस जन-समुदाय में माता और पुत्र का यह दिव्य भाव-सम्बन्ध होता है, वहीं राष्ट्र निवास करता है। ऐसा ही राष्ट्रभाव राष्ट्रीयता का पर्याय होता है।

‘अथर्ववेद’ सहित सभी वेदों में राष्ट्रीय भावना के लिए मातृभूमि के विषय में अत्यन्त आदर का भाव व्यक्त किया गया है। ‘पृथ्वीसूक्त’ के नाम से विख्यात इस राष्ट्रगीत के प्रथम मन्त्र में ही मातृभूमि के आठ श्रेष्ठ गुणों का वर्णन किया गया है। ये आठ गुण हैं— सत्य, वृद्धि, न्याय-व्यवहार, क्षात्र तेज, दक्षता, तप (द्वन्द्व सहन करने की शक्ति), ज्ञान और शुभ कर्म। मन्त्र इस प्रकार है—

**“सत्यं बृहत् ऋतम् उग्रं दीक्षा तपः ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।”**

अंग्रेजी में इन्हें कह सकते हैं— Truth, Development, Righteousness, Strength, Devotion to a cause, Hard Labour, Knowledge and Sacrifice of Selfishness. These are eight virtues that sustain the Earth or a State.

वास्तव में मातृभूमि की स्वतन्त्रता का संरक्षण इन्हीं आठ श्रेष्ठ सद्गुणों से होता है। सत्यनिष्ठा, संवर्द्धन, न्याय-व्यवहार, प्रबल क्षात्र तेज, कर्तव्य-दक्षता, शीत-उष्ण सहन करने की शक्ति, ज्ञान-विज्ञान और श्रेष्ठों का सत्कार जिस राष्ट्र में ये विद्यमान हैं, वही राष्ट्र सच्चा राष्ट्र है और उसी राष्ट्र की राष्ट्रियता सही माने में राष्ट्रियता है। राष्ट्रजन में इन श्रेष्ठ गुणों के वर्द्धन से मातृभूमि का धारण होता है। जिस भूखण्ड के निवासियों में ये आठ गुण पाए जाते हैं, वही भूखण्ड वहाँ के लोगों की भूत, वर्तमान और भविष्यकालीन अवस्था का संरक्षण करता रहता है।

हमारी महीयसी मातृभूमि के पास क्या नहीं है? यह दिव्य मातृभूमि विश्वम्भरा है अर्थात् सबका पालन-पोषण करनेवाली है; वसुधानी है अर्थात् रत्नों की खान है; अन्नपूर्णा है (धन-धान्य से भरपूर है); हिरण्यवक्षा है, अपने वक्ष में सुवर्ण धारण करनेवाली है। ऐसी दिव्य भूमि को उत्तम रीति से धारण करने पर ही वह सुरक्षित रहती

है— ‘सा भूमिः संधृता धृता।’ किन्तु अत्यन्त दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हममें से अधिकांश ने अपनी धरती को, अपनी मातृभूमि के इन श्रेष्ठ गुणों को, समर्पण एवं स्नेह के इन भावों को भुला दिया है। वह लगाव, जो जन का अपनी धरती के प्रति होना चाहिए, मिटता चला जा रहा है। हमारे लिए अब वह धरती आकर्षण का केन्द्र बनती जा रही है, जो हमसे हजारों मील दूर है।

अपनी मातृभूमि से विलग होने की भावना ने ही हमें आज इस स्थिति में पहुँचा दिया है कि हम कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों से अपने ही जन के विरुद्ध विषवमन कर रहे हैं और अपनी भूमि को खण्ड-खण्ड में बाँटकर भोगने के लिए आतुर हो उठे हैं। आज अपने राष्ट्र में यह दिव्य लगाव, अपनापन का यह भाव टूटता जा रहा है। अब धरती माँ का नहीं; सम्पत्ति का, रोजगार का पर्याय बनती जा रही है। जन्मभूमि को स्वर्ग से भी बढ़कर कहने का भाव यह था कि धरती उपभोग की वस्तु नहीं, भाव एवं महाभाव की वस्तु है। माँ का प्यार सन्तान के प्रति अहैतुक होता है और माँ भी सन्तान से इसी अहैतुक भाव की भूखी रहती है।

हमारी मातृभूमि भी हमसे इसी दिव्य अहैतुको भाव की अपेक्षा रखती है। किन्तु क्या हममें से अधिकांश के पास यह भाव है? धरती से हमारा जो सम्बन्ध और लगाव रह गया है, वह व्यवसाय पर आधारित लगाव है। इसीलिए हम अपनी धरती और धरती के जन की सेवा को छोड़ सात समुन्दर पार की धरती से नाता जोड़ने के लिए बेचैन हैं। जो नेता हैं, प्रशासन में हैं, डाक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, उद्योगपति, शिक्षक हैं, वे भी अपना उल्लू सीधा करने के ही फेरे में हैं। राष्ट्र एवं राष्ट्रजन की चिन्ता करने की भावना उनके

मन में नहीं है। बुद्धिजीवी भी अपनी धरती को बुद्धि से तौलना चाहते हैं।

माँ को तर्क नहीं, बुद्धि नहीं; भाव चाहिए, स्नेह चाहिए, प्यार चाहिए, श्रद्धा एवं भक्ति चाहिए। समृद्धि की, सम्पन्नता की अतृप्त आकांक्षा, भोग की असीम लालसा व्यक्ति को जीवन से खींचकर वस्तु की ओर, स्वर्ण और सत्ता की ओर ले जा रही है। उपभोक्तावादी संस्कृति पश्चिम से आयातित होकर भारतभूमि के विमल वक्ष पर पसरती और फैलती जा रही है।

आज अपने देश में जो कुछ हो रहा है, भोग एवं समृद्धि की इसी अतृप्त आकांक्षा के चलते हो रहा है। अपनी धरती को बाँटकर भोगने की लालसा का ही कुपरिणाम है आतंकवाद या उग्रवाद। अपनी ही धरती एवं अपने ही जन से ऐसी नफरत शायद ही विश्व के किसी राष्ट्र में देखने को मिले। उत्तर से दक्षिण तक, पूर्व से पश्चिम तक जो भी और जितनी भी आतंकवादी हलचलें तथा हिंसात्मक घटनाएँ दिखाई पड़ रही हैं; नफरत, घृणा, हिंसा और अलगाव के जो भी घिनौने दृश्य देखने को मिल रहे हैं, इनके मूल में समृद्धि की यही अतृप्त आकांक्षा कार्य कर रही है।

सम्पन्नता तथा समृद्धि की अतिशय भूख धरती को बाँटने और भोगने के लिए विवश कर देती है और अपने ही जन को, अपने ही मन को विरस बना देती है। अपनी धरती के प्रति यदि हमारा लगाव ठीक है, अपनापन का भाव सही है तो कहीं भी तिक्तता नहीं आएगी। सम्पूर्ण भारत में हमें अपनी धरती के प्रति इसी लगाव को, आत्मीयता को गाढ़ा करने की आवश्यकता है।

अपनापन की यह कड़ी जितनी मजबूत होगी, भारतीयता, राष्ट्रीयता उतनी ही गाढ़ी होगी और जन-जन में आत्मीयता भी उतनी ही गहरी होगी। तब धर्म, वर्ग और वर्ण की सीमाएँ अपने

आप टूट जाएँगी और एक बृहत् राष्ट्रभाव, भारतभाव हमारे भीतर से विकसित होगा, जो हमारे लोकतन्त्र को मजबूत करेगा तथा हमारी लोकतन्त्रीय पहचान को उजागर करेगा।

**महाराष्ट्र, राष्ट्र, राज्य, क्षेत्र और जनपद :** प्राचीनकाल में हमारी दृष्टि बड़ी विशाल थी, हमारा भाव बृहत् था। हमारे अन्दर द्रोहभाव या द्वेषभाव नहीं था। सभी जन परस्पर की प्रीति भावना के सूत्र में बँधे थे। 'सब नर करहिं परस्पर प्रीति' रामराज्य का आदर्श था। ऐसा ही राज्य सुराज्य या धर्मराज्य, आदर्श राज्य कहलाता है। ऐसे ही राज्य को स्वराज्य तथा सुराज्य कहा जाता था। गोस्वामीजी ने ऐसे ही आदर्श राज्य को चित्रकूट में देखा था, जिसका भावमय वर्णन श्रीरामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड में है। जब श्रीभरत श्रीराम को अयोध्या लौटाने हेतु चित्रकूट में पहुँचते हैं, तब श्रीराम के आगमन से वहाँ रामराज्य या सुराज्य स्थापित हो चुका था। गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है—

ईति भीति जनु प्रजा दुखारी।  
त्रिबिध ताप पीडित ग्रह मारी॥  
जाइ सुराज सुदेस सुखारी।  
होहिं भरत गति तेहि अनुहारी॥  
राम बास बन सम्पति भ्राजा।  
सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥  
सचिव बिराग बिबेक नरेसू।  
बिपिन सुहावन पावन देसू॥  
भट जम नियम सैल रजधानी।  
सान्ति सुमति सुचि सुन्दर रानी॥  
सकल अंग सम्पन्न सुराउ।  
राम चरन आश्रित चित चाउ।  
जीति मोह महिपालु दल सहित बिबेक भुआलु।  
करत अकंटक राजु पुरँ सुख सम्पदा सुकालु॥  
(मानस : २.२३५)

इन चौपाइयों में सुराज, सुराजा, सुराउ आदि शब्दों द्वारा रामराज्य का अद्भुत चित्रण किया गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में भी स्वाराज्य की महिमा गाई गई है। यहाँ स्वाराज्य के स्थान पर 'स्वाराज्य' शब्द का प्रयोग हुआ है—

**स्वस्ति। साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यम् आधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात्.....।**

महर्षि याज्ञवल्क्य स्वाराज्य को ही आदर्श राज्य मानते थे। ऐसे ही आदर्श राज्य को श्रीराम ने इस महीयसी धरती पर उतारा था—

दैहिक दैविक भौतिक तापा।  
राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥  
सब नर करहिं परस्पर प्रीती।  
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥  
चारिउ चरन धर्म जग माहीं।  
पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥  
राम भगति रत नर अरु नारी।  
सकल परम गति के अधिकारी॥  
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा।  
सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा॥  
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।  
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

(मानस : ७.२०.१-४)

प्राचीन काल में हमने 'स्वाराज्य' या 'स्वराज्य' के अर्थ को ठीक से समझा था और 'सुराज्य' की स्थापना की थी। 'ऋग्वेद' में स्वाराज्य के लिए तीन प्रकार के लोगों की चर्चा मिलती है— (क) मित्र दृष्टिवाले लोग (ख) विस्तृत दृष्टिवाले लोग और (ग) ज्ञानी लोग। मन्त्र इस प्रकार है—

**आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।  
व्यचिष्टे बहुपाय्य यतेमहि स्वराज्ये॥**

(ऋग्वेद : ५.६६.६)

अर्थात् हे मित्रता रखनेवालो! जिनकी दृष्टि विशाल हुई है, ऐसे सज्जनो! तुम सब तथा हम

सब विद्वान् मिलकर विस्तृत एवं अनेक लोगों की सहायता से, जिसका पालन होता है, ऐसे स्वाराज्य में स्वाराज्य-व्यवस्था को ठीक चलाने का उत्तम प्रकार से यत्न करें।

इस मन्त्र में यह बताया गया है कि स्वाराज्य कैसे चलाया जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आपस में झगड़नेवाले, संकुचित दृष्टिवाले और अज्ञानी लोग स्वाराज्य चलाने में सक्षम नहीं हैं। आज अपने राष्ट्र में लोकतन्त्र और स्वाराज्य का मजाक उड़ाया जा रहा है। विधानसभाओं तथा संसदभवन में जो दृश्य देखने को मिल रहे हैं एवं सत्ता के लिए जो छीना-झपटी है और जो अज्ञानता तथा संकुचितता है, वह इस स्वाराज्य को सुराज्य के स्थान पर कुराज्य तथा क्रूर राज्य बना रही है।

इतिहास साक्षी है कि भारत में राष्ट्र के लिए पहले 'महाराष्ट्र' का प्रयोग होता था। राष्ट्र शब्द तो उसके बाद आया। हम महाराष्ट्र से पर उतरे। यहाँ तक तो ठीक था। महाराष्ट्र न सही, राष्ट्र ही सही। किन्तु इसके बाद हमारे पतन का सिलसिला शुरू हुआ और आज भी यह सिलसिला जारी है। यूरोपीय मानसिकता के शिकार हम राष्ट्र से नीचे उतरकर राज्य, उससे नीचे क्षेत्र और जनपद पर आकर टिके हुए हैं। यह गलत मानसिकता हमें कहाँ ले जाएगी, कितना संकुचित एवं संकीर्ण बनाएगी, कुछ नहीं कहा जा सकता। हमारे भीतर का बृहद् भाव सिमटता जा रहा है, मिटता जा रहा है।

'एक राष्ट्र-एक भाव' (One nation-one spirit) आज हमसे विदा ले चुका है और हम अपनी धरती को टुकड़े-टुकड़े करने और भोगने के लिए गिद्धों की भाँति बड़ी तेजी से आकांक्षाओं के पंख फैलाए ऊपर से नीचे उतरते आ रहे हैं। राष्ट्र की धरती से, भारत की महीयसी भूमि से

लगाव महसूस करने की ललक का बिलकुल अभाव होता जा रहा है। दायरों में बँटी हुई हमारी विचारधारा अपनी धरती के फटने और दरकने का अहसास करा रही है। आज आवश्यकता है इसी फटी हुई, दरकी हुई धरती को जोड़ने की; अपने राष्ट्र को बृहत् भाव एवं सुदृढ़ वैचारिक धरातल प्रदान करने की।

आज हर राज्य, हर क्षेत्र, हर भाषा और हर मजहब का आदमी अपनी-अपनी इच्छा-अभिलाषा की आग से जल रहा है; संकुचित सोचों एवं संकीर्ण स्वार्थों के वशीभूत होकर राज्य, क्षेत्र तथा जनपद के लोगों का ही कल्याण सोच रहा है। अपने राज्य में दूसरे राज्यों के नागरिकों को परीक्षा नहीं देने दे रहा है तो कोई राज्य दूसरे क्षेत्रों तथा राज्यों के लोगों को अपने राज्य से निकाल रहा है और निर्दोष लोगों को गोलियों से भून रहा है। अपनी ही जमीन और अपनी ही धरती के लोगों के साथ ऐसा क्रूर व्यवहार शायद ही कहीं देखने को मिले।

हमारे देश में इंसान और इंसान के बीच का आत्मीयता का रिश्ता टूट गया है। आज की स्थिति पर एक शेर का स्मरण हो रहा है—

**क्या मिलेगा किसी को किसी से  
आदमी है जुदा आदमी से।**

आज भारत का और उसके निवासियों-नागरिकों का एकमात्र धर्म है— आदमी-आदमी के बीच टूटे हुए इसी रिश्ते तथा आत्मीयता के सम्बन्ध को जोड़ने और तलाशने का। आज अपने पूरे राष्ट्र में वैचारिक कुहासा छा गया है; आस्था का आधार दरक गया है, विश्वास का भाव कुण्ठित हो गया है, कर्मप्रकाश की चेतना ओझल हो रही है। भारत का आँगन सन्नास तथा अनास्था के विषैले धुएँ से भरता जा रहा है। अन्धी अनुकृति की विकृति हर क्षेत्र में सड़ाँध पैदा कर

रही है। ऐसी स्थिति में जीवन का शिव कैसे प्रकट होगा? आधुनिकता तथा नव्यता की आँधी से हमारी आँखें इतनी मलिन हो गई हैं कि अपना महान् और महनीय बुरा लगने लगा है और पश्चिम का कचरा ही भाने लगा है। हर क्षेत्र में, हर मोड़ पर यह अँधेरा गहरा होता जा रहा है। इस गहरे अँधेरे में भारतीयता, राष्ट्रीयता कहीं खो गई है; अपना महान् भारत राष्ट्र कहीं गुम हो गया है। इस अँधेरे को चीरकर, भ्रम एवं छलावे के कुहासे को भेदकर अपने महान् भारत को ढूँढ़ने और निकालने का काम सचमुच बड़े साहस और धैर्य का है।

राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम की सन्तानों में क्या ऐसा साहस है, जो झूठे धर्म, सम्प्रदाय, मजहब, वर्ण, वर्ग, वाहन और क्षेत्र के इन गहराते अँधेरों तथा कुहासों में गुम तथा विलुप्त होती हुई भारतीयता को पकड़कर पुनः प्रतिष्ठित कर दे; दसों दिशाओं में मुँह फैलाए एवं शान्ति-सीता को लीलने को आतुर साम्प्रदायिकता, अलगाव तथा आतंकवाद, जघन्य हिंसा एवं अपहरण के प्रतीक दशमुख रावण को ससैन्य मारकर समाप्त कर सके!

स्वराज्य एक पवित्र शब्द है। लोकतन्त्र मात्र एक शासन-पद्धति नहीं, उत्तम जीवन जीने का पर्याय भी है। स्वराज्य प्राप्त करने से अधिक महत्त्व की चीज है— स्वराज्य की रक्षा करना और सुराज्य की स्थापना करना। यह तभी सम्भव है, जब हममें चरित्रगत सच्चाई हो, कर्म के प्रति ईमानदार निष्ठा हो और अपनी धरती से गहरा लगाव हो। जन-जन के मन में जब तक यह भाव नहीं उत्पन्न होगा, तब तक हमारे इस लोकतन्त्र का रूप सही और स्थिर न होगा।

हमारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब धरती से हमारे गहरे और आत्मीय

लगाव में कमी आई है, तब-तब हमारा देश कमजोर हुआ है और हमारी लोकतान्त्रिक पहचान मिटी है। राष्ट्रीय एकता को मजबूत बनाने की दिशा में अपनी धरती से गहरे स्तर पर जुड़ना अनिवार्य है। हिन्दी की सुप्रसिद्ध लेखिका महीयसी श्रीमती महादेवी वर्मा ने अपने एक लेख में इसी आशय का भाव इन शब्दों में व्यक्त किया है— “इतिहास ने अनेक बार प्रमाणित किया है कि जो मानव-समूह जिस सीमा तक अपनी धरती से तादात्म्य कर सका है, वह उसी सीमा तक अपनी धरती पर अपराजेय रहा है।”

राष्ट्र के समान स्वराज्य भी एक उदात्त शब्द है। प्राचीन भारत में, विशेष कर वैदिक युग में, राष्ट्र के समान ही स्वराज्य, साम्राज्य, महाराज्य, परमेष्ठिराज्य आदि विभिन्न शासनतन्त्रों की प्रणालियाँ थीं। किन्तु हमारी लोकप्रिय शासन-पद्धति स्वराज्यमयी एवं गणतन्त्रात्मक ही थी। राजतन्त्र भी उन्हीं आदर्शों से संचालित होता था, जिन आदर्शों से प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र या जनतन्त्र संचालित हो रहा था। राजा या सम्राट् भी इन्हीं गणतन्त्रात्मक मूल्यों को अपनाता था। चरित्र सबसे ऊपर था, सेवा का आदर्श था। स्वराज्य के लिए संयम, सहिष्णुता, सद्भाव, स्नेह, सहयोग, साहस और श्रेष्ठ संकल्प का होना परम आवश्यक है।

आज अपने देश में सब कुछ है; शक्ति भी है, समृद्धि भी है, साहस भी है, शौर्य भी है पर चरित्र नहीं है, अहैतुक सेवा का भाव नहीं है और शान्ति नहीं है। अनियन्त्रित भोगलिप्सा एवं ऐश्वर्यलिप्सा ने हमें पशु बना दिया है। पैसे के प्रलोभन ने अपनी ही धरती पर अपने ही जनो से हमें अलग कर दिया है। हम अपने ही भाइयों के रक्त के प्यासे हो गए हैं। अपना ही जन हमारा शत्रु बन गया है। आज हमारी अतिशय भोगवादी वृत्ति शान्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बनकर

खड़ी है। मानव असहिष्णु बन गया है। लोकतन्त्र में जिस संयम एवं सहिष्णुता की अपेक्षा होती है, उसका अभाव अपने देश में हो गया है। इसलिए आज अपने देश में आतंकवाद, उग्रवाद, हिंसावाद, अलगाववाद आदि का ताण्डव नृत्य देखने को मिल रहा है।

शान्ति का मार्ग हिंसा नहीं, असहयोग नहीं; शान्ति का मार्ग समझौते का मार्ग है, सहिष्णुता का मार्ग है, संयम और सद्भाव का मार्ग है, परस्पर की प्रीतिभावना का मार्ग है। स्वराज्य और सुराज्य के लिए इन्हीं सारी चीजों की आवश्यकता है और ये चीजें हमारे हृदय में तब आएँगी, जब अपनी मातृभूमि के प्रति हमारे हृदय में गहरा लगाव होगा, अपनापन का भाव होगा और अपने जन के प्रति प्रीति का, आदर का तथा सहयोग-साहचर्य का भाव होगा।

धरती के पश्चात् जन की संस्कृति ही वह दूसरा प्रमुख तत्त्व है, जो राष्ट्र को और राष्ट्रीयता को बिम्बित करता है। भूमि हो, जन भी हों और जन की संस्कृति न हो तो वह राष्ट्र-राष्ट्र की संज्ञा नहीं पा सकता। संस्कृति ही राष्ट्रभावना को पोषण-तत्त्व प्रदान करती है। किसी भूभाग पर बसनेवाले जन और जन की संस्कृति किसी राष्ट्र की पहचान को मूल्यवान् बनाते हैं। इसीलिए राष्ट्र की संस्कृति की रक्षा का प्रयत्न धरती की रक्षा के प्रयत्न की भाँति ही अनिवार्य है।

जिस राष्ट्र के नागरिक अपनी संस्कृति की रक्षा की दिशा में प्रयत्नशील और जागरूक नहीं, वह राष्ट्र स्वतन्त्र होकर भी सुरक्षित नहीं रह सकता। संस्कृति ही वह प्राणमयी पहचान है, जो किसी राष्ट्र को अन्य राष्ट्र से भिन्न बताती है। अतः जो राष्ट्र संसार में अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहता है, उसे अपनी संस्कृति को बचाए रखने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। संस्कृति ही

वह संजीवनी है, जिसे सुरक्षित रखकर कोई राष्ट्र अमर बन सकता है।

भारतीय संस्कृति अति प्राचीनकाल से ही एकत्व की प्राणमयी-प्रकाशमयी पीयूषधर्मी धारा को प्रवाहित करती आ रही है। हमारी संस्कृति पतितपावनी पापहरा गंगा की भाँति अहर्निश कल्याण और मंगल बाँटती रही है। यह महीयसी संस्कृति समन्वय एवं सहकार की संस्कृति है; स्नेह और सद्भाव की संस्कृति है; यह विश्वास, विचार और आचार की संस्कृति है; सहयोग एवं सहानुभूति की संस्कृति है। भेद से अभेद की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा सान्त से अनन्त की ओर गति है भारतीय संस्कृति की।

हमारी संस्कृति साहित्य, कला, संगीत, नृत्य, परम्परा, खान-पान, रहन-सहन, धर्म, दर्शन आदि श्रेष्ठ तत्त्वों से निर्मित है। यह संस्कृति हमारे पूर्वजों के भव्य एवं दिव्य विचारों का दर्पण है। हमारी संस्कृति का प्राणतत्त्व आध्यात्मिकता है। किन्तु हमने भौतिकता की उपेक्षा नहीं की। हमने हृदय और मस्तिष्क तथा भावना और चिन्तन में तालमेल बैठाया और लोक तथा परलोक दोनों को महत्त्व दिया है। इसीलिए हमारी संस्कृति आज भी जीवन्त और प्राणवन्त बनी हुई है।

किन्तु आज हमारी संस्कृति खतरे में पड़ गई है। हमारी संस्कृति के मूल्यवान् आदर्श-संयम, सारल्य, सहयोग, समन्वय, स्नेह, सौहार्द, सौमनस्य, सामंजस्य, शील और सबसे बढ़कर हमारा सख्यभाव सभी मिटते जा रहे हैं। पश्चिम की आयातित अति उपभोक्तावादी संस्कृति, जिसमें देह, दावत, दिखावा, नग्नता आदि की प्रधानता है, हमारी नई पीढ़ी के किशोर मानस को अपने मोहक मायाजाल में फँसाकर उन्हें विकलांग बना रही है।

बड़ी तेजी से हमारा सांस्कृतिक पतन हो रहा है। ध्यान रहे; किसी राष्ट्र की संस्कृति का

पतन राष्ट्रीयता का पतन होता है। सांस्कृतिक मूल्य राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करते हैं। आज दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारी महीयसी संस्कृति के मूल्यों का बड़ी तेजी से हास हो रहा है। हमारे साहित्य में भी पश्चिमी संस्कृति की विकृतियाँ बड़ी तेजी से प्रवेश कर रही हैं। प्राचीनता को नकारा जा रहा है और नवीनता के नाम पर अन्धी अनुकृति के तहत साहित्य को प्रदूषित किया जा रहा है। यह सब हमारी राष्ट्रीयता की धार को कुण्ठित कर रहा है।

साहित्य के माध्यम से ही स्वतन्त्रतापूर्व के दिनों में हमने राष्ट्रीय भावों का, राष्ट्रीयता और राष्ट्र की एकता का प्रचार-प्रसार किया था। आज हमारी संस्कृति का प्रमुख अंग साहित्य अति आधुनिकता की आँधी में अपने लक्ष्य से भटक गया है, अपने गन्तव्य के मार्ग से भटक गया है। कला में नंगापन प्रवेश कर गया है। नई पीढ़ी वैश्विक संस्कृति के नाम पर यूरोप, अमेरिका, कनाडा, फ्रांस, जर्मनी, जापान, इटली आदि की विकृति और नग्नता से पूर्ण संस्कृति को अपनाकर डिस्को, डांस, पॉप संगीत, शराब, धनलिप्सा आदि का शिकार होकर ऐसा आचरण कर रही है कि लगता है, पचास वर्षों के भीतर ही भारतीय संस्कृति के सारे श्रेष्ठ मूल्य समाप्त हो जाएँगे और भारत में ही भारत लुप्त हो जाएगा।

सांस्कृतिक दृष्टि से गुलाम बनने की दिशा में हम बड़ी तेजी से दौड़ लगा रहे हैं। शील, मर्यादा, अनुशासन, संयम, चरित्र, आचरण, आत्मसम्मान सब कुछ समाप्त हो रहा है।

याद रहे; संस्कृति ही राष्ट्ररूपी वृक्ष का संवर्द्धन करनेवाला रस होती है। जिस धरती की गहराई से यह जीवनदायी रस आ रहा था, उसे भीतर से ही सुखा देने का षड्यन्त्र शुरू हो गया है। रस का यह प्रेरणादायी अजस्र स्रोत सूखने की



स्थिति में आ गया है। राष्ट्ररूपी यह वृक्ष अब प्राणवायु अपने पावन परिवेश से नहीं, अपितु सात समुन्द्र पर से लेने को लाचार और विवश दिखाई पड़ता है। हम जिस राष्ट्ररूपी शीतल एवं प्राणदायी सुखद छाया के नीचे शान्ति से बैठकर अपने मानव होने के भाव को, भारतीय होने के बोध को व्यक्त कर रहे थे, वहाँ अब पश्चिम की तिक्तता, कड़वाहट, हिंसा, उग्रता, नफरत, घृणा, द्वेष, अलगाव और आतंक के खूँखार पशु तथा नरभक्षी दानव आक्रोश की मुद्रा में मानवता, दिव्यता और भारतीयता को निगलने के लिए बेचैन बैठे हैं।

अपनी संस्कृति से विच्छिन्न राष्ट्र मस्तिष्कविहीन एवं हृदयहीन बन जाता है। ध्यान रहे; संस्कृतिविहीन राष्ट्र परकटे पक्षी की भाँति लाचार और विवश होता है। भारतीय जन को, संस्कृति-सचेत पुरुषों को तथा राष्ट्र के कर्णधारों को इस पतन की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। हमें डर है कि निकट भविष्य में हमारी संस्कृति कहीं गुम न हो जाए! चुनौती है भारतजन के सामने।

राष्ट्रीयता का तीसरा प्रमुख तत्त्व है भाषा। प्रत्येक राष्ट्र की वाणी का महत्त्व होता है। राष्ट्र अपनी अभिव्यक्ति भाषा और अपनी वाणी में ही करता है। भाषा से ही साहित्य बनता है और साहित्य ही राष्ट्रीय भावों का प्रचार तथा प्रसार करता है। अतः भाषा राष्ट्रीयता तथा एकता का प्रधान अंग होती है। जहाँ भाषिक एकता नहीं, अपनी भाषा के प्रति आदरभाव तथा सम्मान का भाव नहीं, वहाँ राष्ट्र मूक होता है, गूँगा होता है। किसी राष्ट्र में बसनेवाले विभिन्न विचारों, विश्वासों और पन्थों को एकता के सूत्र में, प्रेम के सूत्र में बाँधने की शक्ति केवल भाषा में ही होती है।

स्वतन्त्रतापूर्व का इतिहास बताता है कि स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनों में पूरे राष्ट्र में हिन्दी के

माध्यम से ही राष्ट्रीयता का प्रचार हुआ था। अहिन्दीभाषी लोगों ने भी हिन्दी के माध्यम से ही अपने विचार व्यक्त किए। गांधीजी, सुभाष बाबू, पटेल आदि श्रेष्ठ नेताओं ने हिन्दी भाषा को ही राष्ट्र की भाषा के रूप में महत्त्व दिया। भाषा में ही हमारा हृदय अभिव्यक्त होता है। राष्ट्रीयता के विकास के लिए भाषा की एकता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। राष्ट्र की आत्मा भाषा के माध्यम से ही व्यक्त होती है। मातृभाषा और राष्ट्रभाषा का अपमान राष्ट्र का अपमान है, संविधान का अपमान है और आत्मसम्मान का अपमान है।

आज स्वतन्त्रता-प्राप्ति के सत्तावन वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी हिन्दी तथा राष्ट्र की प्रान्तीय भाषाओं के स्थान पर अँगरेजी भाषा का वर्चस्व हमारी अस्मिता पर प्रश्नचिह्न है। आज से लगभग एक-डेढ़ शताब्दी पूर्व भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने कितना सच कहा था—

**निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कौ मूल।**

**बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय कौ सूला॥**

आज भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की इस वाणी को प्रत्येक भारतीय को अपनी वाणी बनाना होगा, अपनी भाषा को आदर देना होगा, तभी हमारी राष्ट्रीयता पुष्ट होगी, विश्व में हमारा मान और सम्मान होगा तथा एक स्वतन्त्र एवं स्वाभिमानी राष्ट्र के रूप में हमारी पहचान होगी।

मैं अँगरेजी का विरोधी नहीं, किन्तु अपनी भाषा और अपने देश की सभी भाषाओं का पक्षपाती अवश्य हूँ। अपने ही देश में अपनी ही भाषा का अनादर किसी भी स्वाभिमानी भारतीय को सह्य नहीं होगा। हमें अपनी भाषा को महत्त्व देना होगा, तभी विश्व में हमारा मान और महत्त्व बढ़ेगा; अन्यथा हमारी स्वतन्त्रता अधूरी सिद्ध होगी। हम अँगरेजी अवश्य पढ़ें, पर इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपने देश की भाषाओं को भूल

जाएँ और अपनी भाषा का अनादर करें। इस अवसर पर एक कविता का स्मरण हो रहा है—

**अपनी भाषा है भली, भलो आपुनो देस।  
जो कुछ अपुनो है भलो, यही राष्ट्र सन्देश॥**

आएँ; हम अपनी राष्ट्रीयता की पहचान के इन तीनों श्रेष्ठ तत्त्वों— धरती, संस्कृति और भाषा के प्रति अपनी आत्मीयता और गहरा लगाव रखें और सिर तानकर स्वदेश, स्वसाहित्य, स्वभाषा, स्वसंस्कृति और सबसे बढ़कर स्वाभिमान पर गर्व करें।

भारत महान् था, महान् है और महान् रहेगा; यह सपना भर नहीं, सत्य है, यथार्थ है, हकीकत है। हमारी संस्कृति के प्राण में एकत्व है, हमारी भाषा में दिव्यत्व है और हमारी धरती में शुचित्व एवं शुभ्रत्व है, यह सारे संसार को ज्ञात है। ध्यान रहे; हमारी एकता टूटे नहीं, हमारा राष्ट्रप्रेम मन्द न हो। राष्ट्रभक्ति, जनसंस्कृति और राष्ट्रभाषा हमारे इस महान् राष्ट्र के तीन प्रधान अंग हैं। इन तीनों के प्रति अगाध प्रेम और अपनापन का भाव ही हमारी राष्ट्रीयता को बिम्बित करते रहेंगे।

आज अपने राष्ट्र को एक बार फिर विश्वगुरु बनाने की आवश्यकता है। किन्तु यह कार्य साधारण नहीं है। इस दिशा में नई पीढ़ी को आगे आना होगा, संकीर्णता तथा संकुचितता का त्याग करना होगा; भेदभाव और छुआछूत के भूत को अपने राष्ट्र से दूर रखना होगा।

स्वराज्य एक बड़ा ही पवित्र शब्द है। इसकी पवित्रता को कायम रखना होगा। हमारा

लोकतन्त्र यदि आत्मिक समृद्धि की दिशा में बढ़ता है तो संसार इसका अनुकरण करेगा। हमें नकलची नहीं बनना है। बाह्य समृद्धि के साथ-साथ आत्मिक समृद्धि बढ़ेगी और परस्पर की प्रीति भावना का विकास होगा, तब हमारा यह लोकतन्त्र अपनी प्राचीन गरिमा को प्राप्त करेगा और हम विश्व को एक बार फिर स्नेह, सद्भाव, शील, मर्यादा, अहिंसा का दिव्य सन्देश देने में सक्षम सिद्ध होंगे। इसके लिए समर्पित, सेवाभावी, ईमानदार और चरित्रवान् नेतृत्व की अपेक्षा है।

भारत इस दिशा में आगे बढ़ रहा है। बर्बरता, दानवता, आतंकवाद और अलगाववाद के बीच भी हमें अपना धैर्य बनाए रखना है, तभी हम शिवत्व को, समृद्धि को और शुचित्व को पा सकेंगे। इसके लिए महाकवि दिनकर के 'नील कुसुम' की इन पंक्तियों के आधार पर नई पीढ़ी को तैयार करना होगा—

**पग-पग पर हिंसा की ज्वाला,  
चारों ओर गरल है;  
मन को बाँध शान्ति का पालन  
करना नहीं सरल है।  
तब भी जो नरवीर असिब्रत  
दारुण पाल सकेंगे;  
वसुधा को विष के विवर्त्त से  
वही निकाल सकेंगे॥**

जय लोकतन्त्र! जय भारत!!

ऋतम्भरा, शान्तिपुरी,  
मोतीहारी-८४५४०१



### पाठकों से निवेदन

अपरिहार्य कारणवश इस अंक से 'धर्मायण' का मूल्य सात रुपये से बढ़ा कर दस रुपये कर दिया गया है; अतः सम्माननीय पाठकों से निवेदन है कि कृपा बनाए रखें! —सं०

## परम शान्ति का मूल मन्त्र : “...सर्वभूतहिते रताः”

□ डा० एस० एन० पी० सिन्हा

भारतवर्ष के गौरवशाली इतिहास की पावन धरा मगध में राजगृह का स्थान महत्त्वपूर्ण था। सारनाथ, वाराणसी, बोधगया, राजगृह, नालन्दा, वैशाली एवं भगवान् बुद्ध की निर्वाणस्थली कुशीनगर मानव-जीवन को धन्य और शुभ्र बनानेवाले 'आध्यात्मिक ऊर्जा बेल्ट' हैं, जिसका केन्द्र राजगृह चुम्बकीय शक्ति-प्रदत्त है। इसकी आध्यात्मिक महिमा के अन्तःप्रकाश में आभासित होता है कि अखिल विश्व की सभ्यता-संस्कृति ने अपना जीवनरस ग्रहण किया हो।

जब-जब सभ्यता-संस्कृति का हास हुआ, इसी भूमि से करुणा, प्रेम एवं सद्भावना का बीज अंकुरित हुआ। 'बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय', 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और औपनिषदिक प्रार्थना 'तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद्गमय' का सार्थक मार्ग यहीं से प्रस्फुटित हुआ। महाभारत काल से लेकर भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर के समय तक 'धर्मप्रकाश' का केन्द्र रहा; साथ ही राजनीतिक रूप से अति महत्त्वपूर्ण भी। इसके कण-कण में प्रेम, करुणा और अहिंसा का नूर है। इसी राजगीर की गोद में वैभारगिरि के पार्श्व में 'वीरायतन' स्थित है।

भौगोलिक दृष्टि से हर पर्वत पर्वत है, पर जब वह दिव्यात्माओं के दिव्यालोक की दिव्य ऊर्जा प्राप्त कर लेता है तब अनेक महापुरुषों, सन्तों एवं भक्तों की उदयस्थली बन जाता है। न जाने किस अदृश्य शक्ति ने जैन मुनि अनन्त सागर विभूति प्रज्ञा महर्षि उपाध्याय श्री अमर मुनि

को प्रेरित किया वैभारगिरि की तलहट्टी में 'वीरायतन' की स्थापना की। अपने पूज्य गुरुदेव श्री अमर मुनि के आशीर्वाद से आचार्यश्री माँ चन्दनाजी ने अपनी दिव्य शक्ति से इसे विश्वात्मा, विश्वज्योति का केन्द्र बनाया, जहाँ क्रियात्मक करुणा एवं व्यावहारिक अहिंसा का एक अद्भुत प्रयोगशाला है।

'वीरायतन' वह पवित्र साधनास्थली है, जो निष्काम कर्म-सेवा की उदात्त आभा से मण्डित है। इसके परिवेश में पदार्पण के साथ ही भगवान् महावीर की अमृतवाणी हमारी अन्तरात्मा में गूँजने लगती है और उपाध्याय अमर मुनिजी के साक्षात् दर्शन होने लगते हैं। यहाँ साध्वियों-मुनियों की कर्मठता का निर्लिप्त कर्तव्यबोध हमें भीने चन्दन की-सी शीतलता प्रदान करती है। यहाँ पहुँचते ही बरबस हमारा मन कह उठता है— जहाँ अनन्त विद्याविभूषिता, शौर्य एवं पवित्रता की प्रतिमूर्ति आचार्यश्री चन्दनाजी की प्रेरणा और सतत प्रयास से आत्मकल्याण-सह-लोककल्याण के मंगलमय कार्य से ओत-प्रोत वातावरण दिखाई दे, उसी पवित्र भूमि को 'वीरायतन' कहते हैं।

जैनधर्म एक धर्ममात्र की अभिधा नहीं, वरन् सब धर्मों के प्रति समत्व की भावधारा प्रवाहित करनेवाला कर्तव्यबोध भी है। अतः उसके सभी तीर्थकरों ने सृजनकारी त्याग-तप के साथ करुणा, अहिंसा, सत्य और विश्वचेतना का मानव-कल्याणार्थ सम्मिश्रण किया। इसकी जीवन्त झाँकी 'वीरायतन' के परिवेश में विद्यमान है। यह

एक संस्था नहीं, बल्कि मानव को सम्पूर्ण मानव बनानेवाला एक 'आन्दोलन' है। यह धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों से ऊपर उठकर सेवा की विभिन्न विधियों के साथ लोगों की आध्यात्मिक-सामाजिक चेतना को उद्बुद्ध करती है। स्वकल्याण के साथ परकल्याण ही 'वीरायतन' का मूल उद्देश्य है— **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च।**

कर्म की जीवन्त तस्वीर 'वीरायतन' वास्तव में 'सत्य, शिव और सुन्दर' का समन्वित रूप है। इसकी प्रतिस्थापना के मूल में तीन भावनाओं का समुच्चय है— 'सेवा, शिक्षा और साधना'। इस दृष्टि से 'वीरायतन' का शरीर सेवा है, शिक्षा उसका मन है और साधना प्राण है।

आत्मा की निर्मलता और उत्कर्ष के लिए यहाँ सेवा की सतत साधना प्रतिफलित दिखाई देती है। दबे-कुचले, अनाश्रितों एवं शारीरिक-मानसिक रूप से कमजोर वर्ग को भौतिक सहारा तथा नैतिक उत्थान के लिए यह केन्द्र समर्पित है— 'लघु रूप में विराट् भावना के साथ।'

सम्प्रति 'वीरायतन' धार्मिक, सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टि से एक अन्तरराष्ट्रीय अद्भुत तीर्थस्थली बन चुका है। पूज्य गुरुदेव के आशीर्वाद से आचार्यश्री चन्दनाजी ने अपनी विलक्षण बुद्धि और घोर परिश्रम से भारत की सीमा पार इंग्लैण्ड, अमेरिका, कनाडा, सिंगापुर और बैंकाक आदि देशों में शाखाएँ और उपशाखाएँ खोली हैं। 'वीरायतन' के श्री 'ब्राह्मी कलामन्दिरम्' में उनके 'सत्यम् शिवम् और सुन्दरम्' की सर्जनात्मक ऊर्जा रूपायित है। उन्होंने अपनी कल्पनाशक्ति एवं सृजनशक्ति के मिश्रण से इसे एक विशिष्ट कलातीर्थ के रूप में विश्वव्यापी स्तर पर प्रतिष्ठित कर दिया है।

भारतीय संस्कृति, सभ्यता, धर्म, दर्शन, लोकजीवन की यह एक बहुमूल्य धरोहर है। यह मानव जाति की अन्तःचेतना को चिरकाल तक

जागृत कर प्रज्ञा और करुणा को प्रस्फुटित करता रहेगा। इसमें भगवान् महावीर के जीवन की प्रमुख घटनाओं को जीवन्त संकेत करनेवाले चित्रांकन यह प्रेरणा देते हैं कि महावीर बनने के लिए कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलते हुए निरन्तर तपना होगा, संकल्प और साधना में अटल रहना होगा, अपमान और उपेक्षा से अविचलित रहना होगा।

सेवा और साधना के क्षेत्र में आदरणीया मदन टेरसा के समकक्ष ही माँ आचार्यश्री चन्दना अपनी प्रज्ञा, करुणा और ममता से मनुष्य की वास्तविक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर रही हैं। इनके प्रयास से 'वीरायतन' जन-जन की आशा और प्रेरणा का केन्द्र बन गया है, जहाँ लोगों की आध्यात्मिक पिपासा को शान्ति मिलती है, वहीं भौतिक कल्याण के क्षेत्र में भी इनका अवदान सर्वविख्यात है।

दृष्टिहीनों को दृष्टि प्रदान करने के लिए यहाँ उत्तम चिकित्सा एवं महिलाओं के लिए व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था है। महिलाओं को आत्मनिर्भर बनना इसका बड़ा उद्देश्य है। आचार्यश्री चन्दनाजी के साथ अन्य समर्पित साध्वियों के कठिन श्रम, साधना एवं प्रज्ञा के फलस्वरूप 'वीरायतन' ईट-पत्थरों से निर्मित एक संस्थान नहीं, बल्कि एक विचार, दर्शन और आदर्श का प्रस्तोता है; जो आनेवाली पीढ़ी को धर्ममार्ग पर चलने के लिए अनुप्राणित करता रहेगा।

बाह्य भव्यता एवं आन्तरिक निर्मलता की दृष्टि से 'वीरायतन' का समूचा परिसर "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्राणि" की सात्त्विक प्रयोगशाला-सा दिखाई पड़ता है। 'ज्ञानांजलि' ज्ञान का अक्षय कोष बीस हजार से ज्यादा पुस्तकों के रूप में सुरक्षित है। परिसर अशोक के ऊँचे वृक्षों से आच्छादित है। मध्य में संगमरमर के एक छोटे

मन्दिर में विद्या की अधिष्ठात्री देवी माँ सरस्वती विराजमान हैं। 'ज्ञानांजलि' के नामपट्ट पर अंकित है— 'ज्ञान के सागर में डूबकर तैरा जाता है'। इससे सटा 'ज्ञानमेरु' आवासीय भवन है, जहाँ 'अनुशासन से जीवन का निर्माण' होता है। 'ध्यानमेरु' मोक्षसाधना 'सत् चित् आनन्द' की साधना का केन्द्र है। 'ध्यानमेरु' के नामपट्ट पर अंकित है— 'प्रभुपूजा से प्रभुता'। 'श्रीब्राह्मी कलामन्दिरम्' में शिल्पविज्ञान की जीवन्त झाँकी है। 'श्रीविद्यापीठ' में कम्प्यूटर शिक्षण केन्द्र है। 'श्रुतसम्बोधि' अर्थात् पूज्य गुरुदेव की विश्रामस्थली (अब 'पूर्ण' विराम)— 'गुरु ब्रह्मा' अभी निर्माणाधीन 'श्रीअमर सर्वतोभद्रम्' है। 'चिदम्बरम्' में 'ध्यान से तनाव-मुक्ति' का केन्द्र है। 'नेत्रज्योति-सेवामन्दिरम्' में— 'ईश्वर का साक्षात्कार सेवा' से होता है— लिखा है।

'वीरायतन' अपने सताईस वर्षों से अधिक के जीवन में महान् साध्वियों की अहर्निश क्रियाशीलता से एक विराट् आत्मा विकसित कर चुका है, जिसमें महावीर का 'अहिंसा परमो धर्मः' बुद्ध का 'करुणावाद', गांधी का 'सत्य-अहिंसा' तथा विवेकानन्द का 'कर्मवाद' एक साथ एकाकार होते दिखाई पड़ते हैं। यहाँ भारतीय संस्कृति का उद्घोष— 'परोपकाराय सतां विभूतयः' प्रतिपल गूँजता रहता है।

आचार्यश्री चन्दना श्रीगीता-दर्शन के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' को साकार कर रही हैं। उनका निष्काम सेवा-कर्म— 'सर्वभूतहिते रताः' एवं 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' का मार्ग प्रशस्त कर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की ओर प्रवृत्त करता है।

भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है— 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः' अर्थात् जो समस्त प्राणिजगत् के कल्याण की अभिलाषा रखते हैं, वे मुझे ही प्राप्त करते हैं।

मनुष्य में सेवाभाव से सब प्राणियों के प्रति अद्वेष, प्रेम और करुणा—जैसे उच्चतर मानवीय गुणों का उदय होता है (अद्वेष सर्वभूतानां मैत्रं करुणा एव च ... यो मे भक्त स मे प्रियः)— ऐसा ही पुरुष स्वयं धर्म को धारण करता है। आचार्यश्री चन्दनाजी का जीवन गीतादर्शन के सार निष्काम सेवा का चरमोत्कर्ष रूप है। वे सही मायने में धर्म-धारणकर्त्री हैं। उन्होंने मानव-सेवा और मानवकल्याण को ही सच्चे धर्म के रूप में आत्मसात् किया है। उनमें जो विलक्षण ऊर्जा-ज्योति है, वह ईश्वर-अंश ही है; क्योंकि विलक्षण कार्य वैसे ही महापुरुष कर पाते हैं, जिनमें परमात्मा का तेज रहता है। 'गीता' में कहा गया है—

**यद्यत् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जिवमेव वा।**

**तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्॥**

अर्थात् जहाँ कहीं किसी असाधारण शक्ति सम्पन्न एवं पवित्र आत्मा को मानव जाति के उत्थान के लिए यत्नशील देखो तो यह जान लो कि वह मेरे ही तेज से उत्पन्न हुआ है; मैं उसके माध्यम से कार्य कर रहा हूँ।

मनुष्य संसार में अपने पुण्य-पापों के अनुसार प्रकृति के पराधीन होकर जन्म लेते हैं—

**सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।**

**निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्यया॥**

(गीता : १४.५)

सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और ये देह में रहनेवाली अमर आत्मा को बाँधे रहते हैं। कुछ मनुष्य अपने कर्म द्वारा इस बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। अपने अन्दर निहित देवत्व को जागृत करते हैं। 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'वह तुम हो' उपनिषद् के इस महावाक्य को सार्थक करते हैं।

महावीर स्वामी ने अपने अन्तर्निहित इस देवत्व को पहचाना था। उसे 'सम्यक् ज्ञान, सम्यक्

श्रद्धा और सम्यक् चरित्र' द्वारा जाग्रत कर उच्चतम स्थिति तक पहुँचा 'स्वयं को जीता' और 'महावीर' कहलाए। धर्म का मर्म और देवता का देवत्व दोनों कर्मों में ही वास करते हैं। सन्त तुलसी की वाणी— 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई' तथा 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा'— इस बात की पुष्टि करती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य (महापुरुष) के कर्म और उद्देश्य भी अलौकिक होते हैं। भगवान् कृष्ण ने 'गीता' में स्वयं कहा है—

**जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।**

**त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥**

(गीता : ४.९)

अर्थात् हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म निर्मल और अलौकिक हैं— इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्व से जान लेता है, वह शरीर को त्यागकर जन्म को प्राप्त नहीं होता, किन्तु मुझे प्राप्त होता है— परमात्मा हो जाता है।

इस मूल मन्त्र— "...सर्वभूतहिते रताः" से आचार्यश्री चन्दनाजी न परमशान्ति को पहचाना और सतत सेवा-साधना का मार्ग चुना। अपने गुरु अमर मुनि के सान्निध्य में इस पथ पर चलकर वे युगों-युगों के लिए प्रेरणा के स्रोत और ज्योतिदीप बन गईं। उन्हीं के शब्दों में—

..."मैं आप सबों के लिए जो कुछ कर रही हूँ, उसमें तो मैं निमित्त मात्र हूँ। सारा कुछ तो प्रभु महावीर और पूज्य गुरुदेव के आदेशानुसार ही हो रहा है, क्योंकि भगवान् महावीर ने सेवा को ही श्रेष्ठ मार्ग बताया था।..."

एक बार तीर्थकर भगवान् महावीर से किसी व्यक्ति ने पूछा— "भगवन्! श्रेष्ठ कौन है? क्या वह, जो आपकी भक्ति करता है या वह जो किसी बीमार, लाचार और असहाय व्यक्ति की

सेवा और सहायता करता है? भगवन्! इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है?" भगवान् ने राजगृह की इसी पवित्र धरती पर उत्तर देते हुए कहा था— 'जे शिल्लाणं पडियरइ से धन्ने' अर्थात् जो क्लान्त और रुग्ण व्यक्ति की सेवा करते हैं।

तात्पर्य यह कि सेवा श्रेष्ठ कर्म है और पुण्य कार्य भी। यदि परमात्मा को पाना है तो सेवा के माध्यम से पाया जा सकता है। भगवान् ने जिस सत्य से साक्षात्कार किया था, वह विराट् था और वही विराट् सत्य, वही विराट् तत्त्वज्ञान बिहार की धरती पर 'वीरायतन' पुण्य सलिला गंगा की भाँति प्रवहमान है।

भगवान् के लिए जाति अथवा धर्म का कोई अर्थ नहीं था। जाति-इन्सानियत और धर्म-मानवता की सेवा। धर्म मनुष्य को सहिष्णुता का सन्देश देता है। दुःख देना कर्मबन्ध का हेतु है और सेवा, सुख देना, मैत्री भाव एवं सभी आत्माओं के साथ बन्धुभाव का अनुभव ही धर्म है। विकृतियों से मुक्त होने के लिए सद्भाव, समत्व एवं समन्वय ही मार्ग है।

भगवान् महावीर ने कहा है कि उत्कृष्ट धर्म वह है, जो दूसरों को स्नेह, शान्ति और सद्भाव अर्पण करे। जो जीव को विकृति में गिरने से बचाए, वह है धर्म। **धारणाद् धर्मः।** जहाँ जीवन है, प्रेम है, शान्ति है; वहीं धर्म है। समभाव है धर्म। आत्मा-आत्मा में समत्व भाव धर्म है। भगवान् महावीर ने कहा है— '**आयतले पयासु**' जहाँ-जहाँ समन्वय का भाव है, वहीं धर्म की ज्योति प्रज्वलित-प्रकाशमान होती है। आतंकवाद का अन्त समन्वय से ही सम्भव है। समन्वय का अर्थ है— 'स्व' का विस्तार— प्रेम, करुणा, मैत्री का विस्तार।

जब तक आप सद्भावपूर्वक पूरी निष्ठा और लगन से कर्म नहीं करेंगे, तब तक आप खुशहाल नहीं होंगे। हमारे हाथ परमात्मा के हाथ हैं। यदि परमात्मा के हाथों से कुछ श्रेष्ठ है तो वे हमारे ही हाथ हो सकते हैं। क्यों न इस हाथ से मानवस्थित ईश्वर की सेवा करें।

आज हमारे समाज में धर्म का वास्तविक स्वरूप धूमिल पड़ता जा रहा है। धर्म के नाम पर संकीर्णता की दीवारें खड़ी हैं। समाज में ऊँच-नीच की भावनाएँ मौजूद हैं। विश्व विनाश की विभीषिका के कगार पर खड़ा है। ऐसे समय में आचार्यश्री चन्दनाजी का चिन्तन हमारे लिए उपयोगी हो गया है। वर्तमान समय में 'एक धर्म' और 'समन्वय' की आवश्यकता है। अहिंसा, प्रेमभावना, निर्मल हृदय, क्षमा, सहयोग आदि उच्च मानवीय मूल्य सेवाभावना से प्राप्त कर देवत्व की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है।

उपर्युक्त सद्बिचार विश्व की सारी भाषाओं में लिखे सद्ग्रन्थों का सर्वार्थसार हैं तथा ईश्वर

और धर्म की सही व्याख्या भी। 'श्रीअमर भारती' और 'श्रीअमर ज्योति' के माध्यम से विखण्डन और विनाश के कगार पर खड़ी मानवता को बचाने के लिए ये शुभ विचारों की किरणें स्वयं को जलाकर प्रभा बिखेरती रहती हैं; 'ऋग्वेद' के इस महावाक्य को सार्थक कर रही हैं— "आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।" उनका यह सार्थक प्रयास विश्वस्तर पर हो रहा है।

घोर सघन अंधकार को नष्ट करने की 'सूर्यशक्ति' 'दीपक' में ही समाहित रहती है (अहं ब्रह्मास्मि)। भगवान् महावीर ने भी कहा था— 'देवावि तं नमं संति जस्स धम्मो सयो मणो'। ... उन्होंने अपनी अन्तिम देशना में उद्घाटित किया था— "जीवन का उद्देश्य— अप्पणा सच्च मे सेज्जा, मेत्ति भूएसु कप्पए" अर्थात् अपने भीतर सत्य की खोज और प्राणी मात्र के साथ मैत्री— आत्ममंगल के साथ जनमंगल।

बी०/९२, पीपुल्स कॉर्पोरेटिव कालोनी,  
लोहियानगर, पटना-२०



शुद्धान्ते मातृमध्ये दशरथपुरतः संचरन्तं परं तं

काञ्चीदामानुविद्धप्रतिमणिविलसत्किङ्किणीनिक्वणाङ्गम् ।

फाले मुक्ताललामं पदयुगनिनदन्नूपुरं चारुहासं

बालं रामं भजेऽहं प्रणतजनमनःखेदविच्छेददक्षम् ।।

जो अन्तःपुर में दशरथजी के सामने माताओं के बीच विचरण कर रहे हैं, जिनकी करधनी में पिरोंई गई मणियुक्त छोटी-छोटी घंटियाँ निनादित हो रही हैं, जिनके वस्त्र में सुन्दर मोती जड़े हैं, जिनके दोनो चरणों के नूपुर ध्वनित हो रहे हैं, जिनकी मुस्कान मोहक है; ऐसे शरणागत जन के समस्त मानसिक दुःखों को दूर करनेवाले बाल रूपधारी श्रीराम का मैं भजन करता हूँ।



## यशोदा के भाग्य

□ राजभवन सिंह

[इस अंक में श्री राजभवन सिंह 'आरत' द्वारा रचित व्रजभाषा के अप्रकाशित महाकाव्य का एक अंश संकलित है। चौपाई, दोहा, सोरठा, कुण्डलिया तथा कवित्त में निबद्ध यह रचना हृदयाह्लादक है।- सं०]

औरो सुनहु कीन जे लीला। मुदप्रद परम बिचित्र रसीला॥  
खेलत रहे विपुल सिसु साथा। देखि सिसुन माटी तिन हाथा॥  
कहयो सबै जसुदा हीं जाई। माई कान्ह माटि रह खाई॥  
सुनि जसुदा आइ कर धरेऊ। प्रभु लखि रोष अतिव जिय डरेऊ॥  
जेहि डर ते कालहुँ डर होई। लीला हेत डरे प्रभु सोई॥  
जसुदा डाँटि कह्यो तू नटखटा। करत रहत काज कित अटपटा॥  
खायो काहे माटि मोहिं कहहू। जनि अब साधु सरिस चुप रहहू॥  
कहहिं बाल सब अरु बलदाऊ। अब जनि मोंते बाति छिपाऊ॥

सुनि हरि बोले खायो नहीं, अबै माटि हीं माइ।  
झूठ बदैँ ये सांगि सब, कहौं रहाँ मुँह बाइ॥

सुनि जसुदा बोली मुँह बाओ। मोंकोहुँ निज बदन दिखाओ॥  
तबहिं प्रभू मुख खोलि दिखायो। लखि जसुदा अचरज बड़ पायो॥  
देखा मुख महुँ अग जग सारा। दिसा पहार भानु ससि तारा॥  
जग कहँ कोउ बस्तु अस नहीं। जसुदा जो न लख्यों मुख माहीं॥  
लखि ये बड़ संका चित भयऊ। चितवत चकित बैठि रहि गयऊ॥  
सोचा सपन तु देखौं नाहीं। जे मुहिं बहु बिधि बस्तु लखाहीं॥  
पुनि सोचा येहि बालक माहीं। कोउ बिचित्र सक्ति तो नाहीं॥  
येहि बिधि सोंचि बिनय इमि कीनी। लखि बिचित्र लीला चित दीनी॥  
चित मन करम ते अगम जे अहई। बिस्व सकल जेहि आस्त्रित रहई॥  
जेहिं सरूप अचिंत बुध गावैं। तेहि चरननि हम सीस नवावैं॥

जेहि माया ते कुमति भई, तिनहिं करौं परनामा।  
तिनहिं सरन आस्त्रित रहौं, हीं बिनीत बसु जामा॥

जसुदा जब प्रभु लीला समुझेउ। करुनानिधि निज माया सिमटेउ॥  
पूत नेह जसुदा कर उमड़ेउ। अचरज बाति सु बिसरी पड़ेउ॥  
अंक उठाइ कान्ह कर लीनी। अतिहिं प्रीत मोद मन कीनी॥  
जेहि स्तुति सांख्य उपनिषद गावैं। तेहि जसुदा माँ गोद खिलावैं॥  
जगतपिता पति जे जगत्राता। तेहि बूझैं सुत जसुदा माता॥  
सुनि ये बचन बोले अवनीसा। कारन कहा सो कहहुँ मुनीसा॥



नन्द बबा का कियो सुकर्मा। मंगलमय साधन सुभ धर्मा॥  
जसुदाहूँ का तप किय भारी। जाते सुत भे प्रभु असुरारी॥  
कियो बिबिध बिधि रास बिलासा। निज गरिमा न करी परकासा॥  
लख्यो न चरित सु निज पितु माता। भये नन्द के आननँददाता॥

कारन कहा सो कहहु प्रभू, संसय मोर मिटाय।  
बिनु गुरु ज्ञान बिभरम मद, मोह न मन को जाय॥

सुनि सुक मुनि बोले हरसाई। कथा सकल सो कहौ बुझाई॥  
पूरब जनम नन्द बसु रहेऊ। द्रोण नाम बड़ तिन सब कहेऊ॥  
धरा नाम तेहि जाया रहेऊ। दुहूँ बिरचि ते अस बच कहेऊ॥  
प्रभु, जब हम जन्महिं भू ऊपर। सेवा करहिं कृस्न परमेसर॥  
सुनि बिधि एवमस्तु कहि दीना। सफल मनोरथ तिन कहँ कीना॥  
ते ही जब जनमे ब्रज माहीं। नन्द जसोदा तब कहलाहीं॥  
प्रभु औतार लीन पुनि पाछे। कर्यो अनन्दित दुहूँ कहँ आछे॥  
अति सनेह दुहूँ के उर माहीं। नन्द जसोदा अति सुख पाहीं॥  
यहइ बाति जाते ते दम्पति। मुदित भए अति सेइ जगतपति॥  
लीला करि हरि मुद बहु दीन्हा। जीवन सफल दुहूँ कर कीन्हा॥

अब आगे जे भा सुनौ, चरित जेहि बिधि कीन।  
नन्द जसोदा गोप गन, सब कहँ जिमि सुख दीन॥

भा इक काल बात अस राजा। जसुदा करन लगीं कछु काजा॥  
करन हेत तब ही पय पाना। मातु निकट प्रभु पहुँचे आना॥  
पय पीयन हित होइकै आतुर। तुनकन लागै त्रिभुवन ठाकुर॥  
देखहु प्रीत प्रताप बड़ाई। जसुदा कहँ देवत सुरसाई॥  
अंकहिं चढ़ि प्रभु पीयन लागे। जसुदा पुलकित अति अनुरागे॥  
एते महँ भा दूध उफाना। जसुदा चह्यो उतारन जाना॥  
बैठाई कृष्ण कहँ गयऊ। प्रभु तेहिते कोपित अति भयऊ॥  
अरुन अधर फरकन पुनि लागे। आँखिन हूँ महँ आँसू आगे॥  
मटका फोरि दियो सहँ रोसा। येहि बिधि प्रगट कियो अक्रोसा॥  
पुनि गृह अपर जाइ घुसि गयऊ। माखन धर्यो सु खावत भयऊ॥  
जसुदा पुनि आई जब तहँवा, कान्हा कहँ बैठायो जहँवा॥  
देखा कान्ह न तहँ, पुनि बासन। फूटे सब, समुझीं सब बातन॥

जानी सब करतूत, कियो लाल मेरो यह।  
ढूँढ़न गइ निज पूत, जा गृह माखन चखि रहे॥

देखा ओखर चढ़िकै खावैं। कछु आहट पाई डरि जावैं॥  
चहँ दिसि चौकहिं ताकहिं फिर फिर। जसुदा जा पहुँचीं पुनि प्रभु भिरा॥

देखि कान्ह भागन तब लागे। जसुदा पीछ धरी अनुरागे॥  
 कछु दुर गए गए पकड़ाई। लगी तबै धमकावन माई॥  
 झाँकी गजब तिनकी तेहि काला। रोवत रहे आँखि भइ लाला॥  
 काजर पसरि रहयो मुख ऊपर। भय ते आँखि रहीं गड़ि भू पर॥  
 जसुदा लख्यो डर्यो मम लाला। बात्सल्य उमड्यो तत्काला॥  
 साँच्यो पर ये भागि न जावै। तेहि ते ओखर बाँधि डरावै॥  
 पर रज्जू छोटो होई गयऊ। पुनि दूसर तब जोरत भयऊ॥

वाहू रज्जू छोट भयो, पुनि जोड्यो तब एक।  
 येहि बिधि सोउ पुर्यो नहीं, लाग्यो जदपि अनेक॥  
 लाग्यो जदपि अनेक पर न पूरो होइ पायो।  
 लखि ये गोपिन जसुदा पर लागीं मुसकायो॥  
 'आरत' श्रम ते सिधिल भई जसुदा माता जब।  
 बँधे प्रभु निज माया को सिमिटाइ के तब॥  
 प्रभु श्रीकृष्ण सुतन्त्र परम, बिधिहुँ इन्द्र कै ईसा।  
 बँधे सो भगती प्रेम बस, कृपासिन्धु जगदीस॥

पुत्रहूँ भए पै बिधि पायो जो प्रसाद नाहिं,  
 आतमाहूँ भए पै जो संकर न पायो है।  
 रमाहूँ अर्धांगिनी भए पे नहिं पाइ सकीं,  
 करुनानिधान जऊ हिए ठहरायो है॥  
 औरो ज्ञानि तपी कर्मकांडिन की बात कहा,  
 करुनानिधान को जा आठों जाम ध्यायो है।  
 'आरत' प्रसाद सोई जसुदा को मिल्यो भूप,  
 जगतपिता हिं जाको पूत होइ आयो है॥

सबते बढिकै प्रेम है, येहि के बस भगवान।  
 प्रेम ते हिं होउ पाइ सकै, साधन कोउ न आन॥

ब्याध का अचारी रह्यो, ध्रुव का उमरदार,  
 गज ने का बिद्या पढ़ी बेद औ, पुरान की।  
 बिदुर कौने बड़ जाति, कहा पुरुषाई रही,  
 उग्रसेन जैसे बलहीन असयान की॥  
 कूबरी को रूप कहा, कौने धन पास रह्यो,  
 बिप्र जो सुदामा लहि प्रीत भगवान की।  
 गुन ते न रीझैं कोउ, प्रीत हिं पसीजै ऐसी,  
 रीत है अनोखी स्याम सुन्दर सुजान की॥

पोस्टल पार्क, बुद्ध नगर, पथ सं०-२,

पटना-१

## वेदों में पशुबलि का विधान नहीं

□ कमलेश नन्दिनी

वेद विश्व का सर्वोच्च और अनादि ज्ञान है। जिस शब्दात्मक वेद को हम सुनते और पढ़ते हैं, वह यद्यपि भौतिक और देश-काल की सीमा में आबद्ध है, पर उसका सूक्ष्म या अभौतिक रूप जिसको परावाक् कहा जाता है, अनादि और अनन्त है। कहा जाता है, वेदों में यज्ञ के लिए पशुबलि का विधान है। अतः वेदों का मान रखने के लिए कुछ लोग 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' अर्थात् वेद विहित हिंसा का नाम हिंसा ही नहीं है, ऐसा कहा करते हैं। परन्तु हिंसा हिंसा ही है। फिर वह चाहे कैसी भी हो। वेदों की तो यह स्पष्ट आज्ञा है, 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि।' अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा न करें।

यजुर्वेद में भगवान् से प्रार्थना की गई है—

मा नस्तोके तनये मा नो आयुषि  
मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।  
मा नो वीरान् रुद्र भामिनोवधी  
हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे॥

(यजुर्वेद : १६.१६)

हे रुद्र! हमारे पुत्र और पौत्र की हिंसा मत करो। हमारी आयु नष्ट मत करो। हमारी गौओं पर, घोड़ों पर प्रहार मत करो। हमारे वीरों को मत मारो; क्योंकि हम हविरन्न से युक्त होकर तुम्हारे यज्ञ के लिए निरन्तर आह्वान करते रहते हैं।

यजुर्वेद में याचना की गई है—

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।  
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः॥

क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये

शिवं शमं शंयोः शंयोः ॥

(यजुर्वेद : ३.४३)

हे गौओ! हमारे गोष्ठरूप घर में सुखपूर्वक निवास करो। हे बकरियो! भेड़ो! तुम भी हमारी आज्ञा से सुखपूर्वक यहाँ रहो, जिससे अन्नात्मक विशिष्ट रस हमारे घर में यथेष्ट हों— ऐसी तुम से याचना हैं। हे गृहो, मैं अपने प्राप्त धन की रक्षा के लिए, मंगल के लिए, अरिष्टशान्ति के लिए तुम्हारे समीप उपस्थित हुआ हूँ। सब सुखों की कामना करनेवाले मुझ यजमान का कल्याण हो। पारलौकिक सुख की कामना से परलोक भी कल्याणकारी हो। मैं दोनों लोकों के सुख का उपभोग करूँ।

अथर्ववेद में भी भगवान् से प्रार्थना की गई है—

मा नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु।

(अथर्ववेद : ११.१.२.२१)

हे रुद्र! हमारे गौ, पुत्र, भृत्य आदि की हिंसा की कामना मत करो। हमारी भेड़ों, बकरों की हिंसा की कामना मत करो।

वेद में जगत् के प्राणियों को कष्ट देनेवाले आततायियों, पापियों के लिए जो प्राणदण्ड का आदेश मिलता है, वह हिंसा नहीं, दण्ड है। वैदिक यज्ञों में तो मांस का इतना विरोध है कि मांस जलानेवाली आग को सर्वथा त्याज्य निश्चित कर दिया गया है। प्रायः चिताग्नि ही मांस जलानेवाली होती है। जहाँ अपनी मृत्यु से मरे हुए मनुष्यों के अन्तयेष्टि-संस्कार में उपयोग की हुई आग का भी

बहिष्कार है, वहाँ पावन वेदी पर प्रतिष्ठापित विशुद्ध अग्नि में अपने मारे हुए पशु के होम का विधान कैसे हो सकता है? आज भी जब वेदी पर अग्नि की स्थापना होती है, तब उसमें से थोड़ी-सी आग निकाल कर बाहर कर दी जाती है। इसलिए कि कहीं उस में क्रव्याद (मांसभक्षी या मांस जलानेवाली आग) के परमाणु न मिल गए हों। अतएव 'क्रव्यादांशं त्यक्त्वा' (क्रव्याद का अंश निकालकर ही) होम की विधि है।

यजुर्वेद का कहना है—

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दुरं—

यमराज्यं गच्छतु रिप्रवाहः।

इहैवायमितरो जातवेदाः

देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥

(यजुर्वेद : माध्यन्दिन : ३५.१६)

मांसभक्षक अग्नि, जिनके स्वामी यम हैं, उन्हीं का सामीप्य प्राप्त करें। इससे भिन्न जो ये दूसरे पवित्र और सर्वज्ञ अग्निदेव हैं, इनको ही यहाँ स्थापित करता हूँ। ये ही हमारी आहुति को देवताओं के पास पहुँचाएँ।

मीमांसा-दर्शन में यज्ञ में मांस के उपयोग का निषेध स्पष्ट रूप से किया है; जैसे १२.२.२ में कहा है, 'मांसपाकप्रतिषेधश्च तद्वत्' और १२.२.६ में 'मांसपाको विहितप्रतिषेधः स्यादद्याहति संयोगात्।'

इनका आशय यही है कि वैदिक यज्ञों में पशु हिंसा अथवा किसी भी पशु के मांस आदि का प्रयोग वर्जित है। महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है कि मद्य, मछली और मांस आदि की प्रथा तो पीछे से धूर्त असुरों ने चला दी। वेद में इन वस्तुओं का विधान नहीं है।

सुरं मत्स्यान् मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।

धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥

(महाभारत : शान्तिपर्व : २६५.६)

यज्ञ में पशु को बाँधने की बात आती है। प्रश्न होता है कि वहाँ पशु क्या है? इसका उत्तर शतपथ-ब्राह्मण के एक प्रश्नोत्तर से स्पष्ट हो जाता है— 'कतमः प्रजापतिः?' प्रजापति अर्थात् प्रजा का पालक करनेवाला कौन है? उत्तर मिलता है— 'पशुरिति'— पशु ही प्रजापालक है।

तात्पर्य यह कि जो पदार्थ या शक्तियाँ प्रजा का पोषण करनेवाली हैं, उन्हें पशु कहा गया है। इसीलिए भिन्न-भिन्न प्रकार के पशुओं की यज्ञ में चर्चा की गई है। 'नृणां व्रीहिमयः पशुः' अर्थात् मनुष्यों के यज्ञ में अन्नमय पशु का उपयोग होता आया है। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' देवताओं ने यज्ञ से ही यज्ञ किया था, उनका यज्ञमय पशु था। निरुक्त में इस मन्त्र का अर्थ करते हुए यास्काचार्य ने लिखा है— 'अग्निः पशुरासीत्तं देवा अलभन्त' अग्नि ही पशु था, उसी को देवताओं ने प्राप्त किया। इतना ही नहीं; अग्नि, वायु और सूर्य को भी 'पशु' नाम दिया गया है—

अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त।

वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त।

सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त।

जहाँ द्व्यर्थक शब्दों के कारण भ्रम होने की सम्भावना हो सकती है, वहाँ बहुत से स्थलों पर स्वयं वेद ने ही अर्थ का स्पष्टीकरण कर दिया है— अथर्ववेद में कहा गया है—

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्।

(अथर्ववेद : १८.४.४.३२)

धान ही गौ है और तिल ही उसका बछड़ा हुआ है।

अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः॥

(अथर्ववेद : ११.२.३.५)

चावल के कण अश्व हैं, चावल गौएँ हैं और पृथक की हुई भूसी मच्छर-रूप है।

**श्याममयोऽय मंसानि लोहितमस्य लोहितम्।**

(अथर्ववेद : ११.२.३.७)

कुदाल आदि का उपादान काले रंग का लोहा इस चावल का मांस और लाल रंगवाला ताँबा इसका रक्त है।

आयुर्वेद-ग्रन्थों में बहुत से पशु-पक्षियों के नामवाले औषध देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए— वृषभ (ऋषभकन्द), श्वान (ग्रन्थिपर्ण या कुत्ता-घास), मार्जार (चित्ता), अश्व (अश्वगन्धा), अज (अजमोदा), सर्प (सर्पगन्धा), मयूरक (अपामार्ग), मयूरी (अजमोदा), कुक्कुटी (शाल्मली), मेष (जीवशाक), नकुल (नाकुली बूटी), गौ (गौलोकी), खर (खरपर्णिनी), काक (काकमाची), वाराह (वाराहीकन्द), महिष (गुग्गुल) आदि शब्द द्रष्टव्य हैं। यह भी सबको जानना चाहिए कि फलों के गुदे को 'मांस' छाल को 'चर्म' गुठली को 'अस्थि' मेद को और रेशे को 'स्नायु' कहते हैं। सुश्रुत में आम के प्रसंग में वर्णन है—

**अपक्वे चूतफले स्नाय्वस्थिमज्जाः सूक्ष्मत्वान्नो पलभ्यन्ते पक्वे त्वाविर्भूता उपलभ्यन्ते।।**

आम के कच्चे फल में सूक्ष्म होने के कारण स्नायु, हड्डी और मज्जा नहीं दिखाई देती, परन्तु पकने पर ये सब प्रकट हो जाते हैं।

हवन-प्रकरण में जहाँ कहीं भी अश्व, गौ, अजा, मांस, अस्थि और मज्जा आदि शब्द आते हैं, उनसे अन्न का ही ग्रहण होता है, पशुओं और उनके अवयवों का नहीं। सामवेद में प्रार्थना की गई है—

**त्वं सोमासि धारयुर्मन्द्र ओजिष्ठो अध्वरे।**

**पवस्व मंहयद्रयिः।।**

(उ० प्र० : ५(२)१)

हे सोम! परम सुखवाला तू हमारे अहिंसावाले यज्ञ में अपनी धाराओं को धन देनेवाली बना। तू साधकों को इच्छित कलश में सिद्ध हो।

वेद में यदि मांस का वाचक या पशुहिंसा का बोधक कोई शब्द ही प्रयुक्त न हुआ है तो वेद में पशुबलि का विधान है, यह कहना सर्वथा अनुचित ही है। जहाँ दवा बनाने के लिए 'प्रस्थं कुमारिकामांसम्' की आज्ञा है, वहाँ सेर बर घृतकुमारी का गूदा ही डाला जाएगा। कुमारी-कन्या का एक सेर मांस डालने की बात तो कोई पिशाच ही सोच सकता है। वेद के यज्ञ-प्रकरण में आए हुए शब्द का वहाँ के सात्त्विक वातावरण के अनुरूप ही अर्थ ठीक हो सकता है। इसलिए कौन-सा अर्थ कहाँ लेना ठीक है, इसका निश्चय करना आवश्यक है।

वेद में, प्रयुक्त शब्दों का मन माना अर्थ लगाना सर्वथा अनुचित है। जो वेद मनुष्य को उच्च कोटि का आत्मज्ञान और श्रेष्ठ कर्तव्यों की शिक्षा देते हैं, है ऐसे पवित्र ग्रन्थों द्वारा पशुहिंसा की बात कहना अर्थ करनेवालों की ही भूल है। भागवत में भी बताया गया है कि पशुहिंसा करनेवाला वेद के रहस्य को नहीं समझनेवाला है।

**यजन्त्यसष्टष्टान्नविद्यानदक्षिणम्**

**वृत्यै परं ध्नन्ति पशूनतद्विदः।।**

(भागवत : ११.५.८)

कुम्हार पाड़ा,

रसिकपुर रोड,

पो०- दुमका-८१४१०१

(झारखण्ड)



## मानस में मानवीय दृष्टियाँ

□ कैलाश त्रिपाठी

मानव-मानस के शास्त्रवेत्ता ऋषि ने वृत्तियों के परिमार्जन की साधना को 'मानस' में अत्यन्त सूक्ष्मता से समाविष्ट किया है। मानव-मन की प्रथम बाह्याभिव्यक्ति है उसकी दृष्टि। गीता के अनुसार मानव-शरीरकृत समस्त क्रियाएँ त्रिगुणाधारित हैं। (गीता : ३.५, ३.२८, ५.६) मानवयोनि रजोगुण-प्रधान होते हुए भी प्रत्येक मनुष्य का त्रिगुण-संयोग भिन्न-भिन्न है। त्रिगुण संयोग की इसी भिन्नता के कारण प्रत्येक व्यक्ति के आकार, रूप, वर्ण, स्वर, स्वभाव आदि के साथ दृष्टि में भी भिन्नता है। सीता-स्वयंवर के समय श्रीराम को उपस्थित भूपादिकों ने महारणधीर-रूप में, भयानक मूर्तिरूप में, काल-सदृश, शृंगाररस की परम अनुपम मूर्ति, विराट् रूप में, अपने बच्चे के रूप में, परम तत्त्व के रूप में तथा अपने इष्टादि अनेक रूपों में अपनी-अपनी रुचि अथवा दृष्टि के अनुरूप देखा है।

नारि बिलोकहिं हरषि हियँ निज निज रुचि अनुरूप।

(मानस : १.२४१)

जिन्ह कें रही भावना जैसी।

प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी।।

(मानस : १.२४१.४)

एहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ।

तेहिं तस देखेउ कोसलराऊ।।

(मानस : १.२४०.२)

यहाँ, 'निज निज रुचि अनुरूप', 'जिन्ह के रही भावना जैसी' तथा 'एहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ' से तुलसी का अभिप्राय व्यक्ति का अपने

त्रिगुण-संयोग-जनित दृष्टि के अनुरूप देखना है।

लंकाकाण्ड के प्रारम्भ में चन्द्रोदय-दर्शन भी इसी गुणाधारित दृष्टिगत भिन्नता को दर्शाता है।

कह प्रभु ससि महुँ मेचकताई।

कहहु काह निज निज मति भाई।।

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई।

ससि महुँ प्रगट भूमि कै झाँई।।

कह हनुमन्त सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।

तव मूरति बिद्यु उर बसति, सोइ स्यामता अभास।।

(मानस : ६.१२ क)

गीता में गुणों के आधार पर सात्त्विकी, राजसी एवं तामसी तीन प्रकार की बुद्धि बताई गई है। (गीता : १८.३०, ३१, ३२) यहाँ पर 'निज-निज मति' से गोस्वामीजी का तात्पर्य बुद्धि में इसी सत्त्व, रज, तम के संयोगी प्रभाव से है। सत्त्व, रज, तम के संयोग की अनुपाती भिन्नता के कारण ही व्यक्ति की बुद्धि में भिन्नता पाई जाती है। इस प्रकार व्यक्ति की बुद्धि एवं दृष्टि में एक साम्य होता है। अतः यह दृष्टिगत भिन्नता त्रिगुणाधारित है। जिस व्यक्ति की बुद्धि सात्त्विक होगी, उसकी दृष्टि सात्त्विक होगी तथा जिसकी बुद्धि तामसी होगी, उसकी दृष्टि भी तामसी होगी। जब तक किसी व्यक्ति के त्रिगुण-संयोग में परिवर्तन नहीं होता, उसकी दृष्टि में भी परिवर्तन सम्भव नहीं।

जिस प्रकार गीता में गुणों के आधार पर बुद्धि को सात्त्विकी, राजसी, तामसी बताया गया है, उसी प्रकार दृष्टि को भी सात्त्विकी, राजसी, तामसी एवं गुणातीत माना जा सकता है। परन्तु

मनुष्य में तीनों गुण न्यूनाधिक किसी-न-किसी अनुपात में विद्यमान होने से किसी एक गुण पर आधारित दृष्टि या बुद्धि को मानना असंगत प्रतीत होता है।

जब प्रत्येक मनुष्य में किसी-न-किसी अनुपात में तीनों गुणों की उपलब्धता सुनिश्चित है, तब किसी एक गुण पर आधारित बुद्धि या दृष्टि कैसे मानी जाए? वस्तुतः दृष्टि किसी गुणविशेष पर आधारित न होकर सत्त्व, रज तथा तम से मिश्रित ही होती है। प्रत्येक मनुष्य में सत्त्व, रज और तम के अनुपाती संयोग की पृथक्ता के कारण दृष्टिगत भिन्नता होने पर भी मानवयोनि के रजःप्रधान होने के कारण सामान्यतया अधिकांश व्यक्तियों की दृष्टि रजोगुण-प्रभावित है।

जब किसी व्यक्ति में किसी गुणविशेष की प्रबलता से अन्य दो गुण अति न्यूनावस्था में पहुँच जाते हैं, तब उस स्थायी प्रबलतावाले गुणानुसार उसकी दृष्टि समझनी चाहिए। ऐसी विशिष्ट स्थितियाँ प्रायः कम ही उपलब्ध होने से अधिकांश व्यक्तियों की दृष्टि मिश्रित माननी चाहिए। यहाँ हम सात्त्विकी, राजसी, तामसी दृष्टियों को उनके लक्षणों की विस्तृत विवेचना में न जाकर केवल प्राथमिक एवं सामान्य रूप में संक्षिप्ततः इस प्रकार परिभाषित करने का प्रयास कर रहे हैं—

(१) **तामसी दृष्टि** : ईर्ष्या, द्वेष, कपटादि-सहित प्रत्येक व्यक्ति में दोष-ही-दोष दिखाई देना।

(२) **राजसी दृष्टि** : अपना-पराया, राग-द्वेषादियुक्त गुण और दोष दोनों साथ-साथ दिखाई देना अथवा एक ही व्यक्ति में कभी गुण और कभी दोष देखना।

(३) **सात्त्विकी दृष्टि** : ईर्ष्या, द्वेषादि-रहित सभी के प्रति प्रेम, दूसरे के गुणों तथा अपने अवगुणों का दिखाई देना।

(४) **गुणातीत दृष्टि** : गुण और दोष दोनों को न देखते हुए राग और द्वेष से सर्वथा रहित सम्पूर्ण

सृष्टि को एक आत्मतत्त्व के रूप में अथवा अपने इष्ट के रूप में देखना।

अपने त्रिगुण-संयोगानुसार ही व्यक्ति में प्रथम तीन प्रकार की दृष्टियों से संयुक्त अपनी पृथक् दृष्टि होती है। जिसके त्रिगुण-संयोग में तमोगुण की प्रधानता है, वह तमोगुण के प्रभाव से प्रत्येक व्यक्ति में ईर्ष्या द्वेषादि युक्त दोष-ही-दोष देखेगा। तामसी दृष्टि छल, कपट, झूठ, मिथ्याभिमान, हिंसा, क्रोधादियुक्त होगी। इस प्रकार के व्यक्तियों का सत्त्वगुण अति न्यून होने से इन्हें दूसरे के गुण दिखाई ही नहीं देते, बल्कि ये तमोगुणी मूढ़ता से अपने अवगुणों को ही सद्गुण मान लेते हैं—

**बचन बज्र जेहिं सदा पियारा।**

**सहस नयन परदोष निहारा।।**

**जे परदोष लखहिं सह साखी।**

**परहित घृत जिनके मन माखी।।**

मानस से तामसी दृष्टि के कतिपय उद्धारण द्रष्टव्य हैं—

सम्पाती की तामसी दृष्टि—

**बाहेर होइ देखि बहु कीसा।**

**मोहि अहार दीन्ह जगदीसा।।**

**आजु सबहि कहँ भच्छन करऊँ।**

**दिन बहु चले अहार बिन मरऊँ।।**

(मानस : ४.२६.१-२)

रावण की तमसी दृष्टि—

**कपिहि बिलोकि दसानन बिहसा कहि दुर्बाद।**

**सेन बिलोकि सहज अभिमानी।**

**बोला बचन क्रोध मद सानी।।**

कपि को देखते ही व्यंग्यात्मक हास्य एवं दुर्वचन बोलना तथा सेना को अभिमान-सहित देखकर क्रोध एवं मदयुक्त वचन रावण की तामसी दृष्टि का द्योतक है।

पंचवटी में कपटवेषी सूपनखा कामयुक्त दृष्टि से राम-लक्ष्मण को देखकर विकल है तथा अपने

उद्देश्य की पूर्ति न होते देख वास्तविक रूप में आकर सीता का भक्षण करने की चेष्टा से यहाँ सूपनखा की दृष्टि को रजोमिश्रित तामसी दृष्टि कह सकते हैं।

पंचवटी सो गड़ एक बारा।  
देखि बिकल भड़ जुगल कुमारा।।  
होड़ विकल सक मनहिं न रोकी।  
जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी।।

(मानस : ३.१७.२-३)

रजोगुण की अधिकता से व्यक्ति दूसरे के गुण एवं दोष दोनों को देखता है। कभी तमोमिश्रित रज के प्रभाव से दोष अधिक दिखाई देने लगते हैं तो कभी सत्त्वमिश्रित रज के प्रभाव से गुण अधिक दिखाई देने लगते हैं। रजोगुणी वृत्ति के कारण यह सम्भव ही नहीं है कि कोई दूसरे के गुण ही देखे। दोष देखना रजोगुणी बाध्यता है। आसक्ति, स्नेह, शोक, चिन्ता, भय, उद्विग्नता, क्षोभ, परिताप, मान, अपमान आदि रजोगुण से प्रादुर्भूत होने के कारण इन लक्षणों से युक्त दृष्टि राजसी कही जाएगी। दशरथजी की राजसी दृष्टि—

रामहि चितइ रहेउ नर नाहू।  
चला बिलोचन बारि प्रबाहू।।  
सोक बिबस कछु कहै न पारा।  
हृदय लगावत बारहिं बारा।।

सुग्रीव की राजसी दृष्टि—

तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा।  
आवत देखि अतुल बल सीवा।।  
अति सभीत कह सुनु हनुमाना।  
पुरुष जुगल बल रूप निधाना।।

कौसल्या की राजसी दृष्टि—

लखि सनेह कातर महतारी।  
बचन न आव विकल भड़ भारी।।

सती की राजसी दृष्टि—

सतीं बिलोके व्योम बिमाना।  
जात चले सुन्दर बिधि नाना।।

सुर सुन्दरी करहिं कल गाना।  
सुनत स्रवन छूटहिं मुनि ध्याना।।

सतीं जाड़ देखेउ तब जागा।  
कतहूँ न दीख सम्भु कर भागा।।  
तब चित चढउ जो संकर कहेऊ।  
प्रभु अपमानु समुझि उर दहेउ।।

सुमन्त्र की सत्त्वयुक्त राजसी दृष्टि—

अनुज सहित सिर जटा बनाए।  
देखि सुमन्त्र नयन जल छाए।।

यहाँ स्वामिभक्ति एवं कर्तव्य-परायणता के समाहित होने से सत्त्व एवं नेत्रों में अश्रु से रजोगुण का भान होता है।

जिसके त्रिगुण-संयोग में सत्त्वगुण की प्रधानता है, ऐसा सात्त्विकी व्यक्ति अपने त्रिगुण-संयोग-जनित स्वभाव से दूसरे में गुण-ही-गुण देखता है; क्योंकि सत्त्वगुण के प्रभाव से दूसरे के दोष उसे दिखाई ही नहीं देते। सात्त्विकी व्यक्ति दैवी सम्पदायुक्त होते हुए प्रायः साम्यावस्था में रहता है। सात्त्विकी दृष्टि का प्रमुख लक्षण है, समत्व। मानस के उद्धारणों के आलोक में सात्त्विकी दृष्टि—

महाराज दशरथ की सात्त्विक दृष्टि—

रायँ सुभायँ मुकुरु कर लीन्हा।  
बदनु बिलोकि मुकुटु सम कीन्हा।।  
स्रवन समीप भए सित केसा।  
मनहूँ जरठपनु अस उपदेसा।।  
नृप जुबराज राम कहुँ देहू।  
जीवन जनम लाहु किन लेहू।।

रामजी की सात्त्विक दृष्टि—

राम सुमन्त्रहि आवत देखा।  
आदरु कीन्ह पिता सम लेखा।।

उतरे राम देवसरि देखी।  
कीन्ह दंडवत हरषु विसोषी।।



कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा।  
रामु बिलोकहिं गंग तरंगा।।



अस तीरथपति देखु सुहावा।  
सुख सागर रघुवर सुख पावा।।

कौसल्या की सात्त्विक दृष्टि—

धरि धीरज सुत बदन निहारी।  
गदगद बचन कहत महतारी।।



जौ पित मातु कहेउ बन जाना।  
तौ कानन सत अबध समाना।।

चित्रकूट जाते समय भरतजी प्रयाग में भरद्वाज मुनि के तप एवं साधना का प्रभाव देख रहे हैं। किसी के तप एवं साधना का प्रभाव सात्त्विक दृष्टि के बिना नहीं देखा जा सकता।

मुनि प्रभाव जब भरत बिलोका।  
सब लघु लगे लोकपति लोका।।  
सकल कामप्रद तीरथ राऊ।  
बेद बिदित जग प्रगट प्रभाऊ।।

भरद्वाजजी की सात्त्विक दृष्टि—

सन्त सात्त्विकी दृष्टि से ही पहचाने जाते हैं। यहाँ भरद्वाजजी ने एवं भरतजी ने अपनी-अपनी सात्त्विकी दृष्टि से परस्पर एक दूसरे को पहचाना है। भरद्वाजजी भरत को कैसे देख रहे हैं!

दंड प्रनाम करत मुनि देखे।  
मूरति मन्द भाग्य निज लेखे।।  
धाड़ उठाड़ लाड़ उर लीन्हें।  
दीन्ह असीस कृतारथ कीन्हें।।  
सब साधन कर सुफल सुहावा।  
लखन राम सिध दसरन पावा।।  
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा।  
सहित प्रयाग सुभाग हमारा।।

परम सात्त्विकी व्यक्ति कभी-कभी सम्पूर्ण सृष्टि को एक ही आत्मतत्त्व के रूप में अथवा

अपने इष्ट के रूप में देखता है। उस समय वह वस्तुतः गुणातीत अवस्था में गुणातीत दृष्टियुक्त होता है। सात्त्विकी व्यक्ति इस प्रकार बार-बार कुछ देर के लिए गुणातीत अवस्था में पहुँचकर पुनः सात्त्विकी स्थिति में आ जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे गुणातीत अवस्था की स्थिरता बढ़ाने पर ऐसा व्यक्ति अनवरत गुणातीत अवस्था में ही रहने लगता है। तब उसकी दृष्टि भी गुणातीत होती है। अपनी इसी गुणातीत दृष्टि के परिणाम-स्वरूप ही उसे सम्पूर्ण सृष्टि एकात्मतत्त्व के रूप में या अपने इष्ट के रूप में दिखाई देती है।

‘जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।’

(मानस : १.७७)

गुण और दोष सत्त्व, रज, तमःप्रादुर्भूत हैं। गुणाबद्ध होना ही माया से मोहित होना तथा गुणातीत होना ही विवेकयुक्त होना है। इसीलिए गुणातीत दृष्टियुक्त व्यक्ति गुण और दोष दोनों को नहीं देखता।

सुनहु तात मायाकृत गुन, अरु दोष अनेक।

गुन यह उभय न देखिअहिं, देखिअ सो अबिबेक।।

(मानस : ७.७१)

जिस प्रकार गुणातीत दृष्टियुक्त पुरुष ही समस्त संसार को सियाराममय देख सकता है, राजसी-तामसी नहीं, ठीक उसी प्रकार राजसी, सात्त्विकी, तामसी-मिश्रित दृष्टियुक्त सामान्य जन ब्रह्म के मानवीय अवतार को मानव रूप में ही देखते हैं।

कृष्णावतार में दुर्योधन, कंस, शिशुपाल, जरासंध आदि उनको एक सामान्य मानव ही समझते रहे। यहाँ तक कि नन्द, यशोदा, देवकी, वसुदेव उनकी माया से बार-बार मोहित होकर अपने पुत्र-रूप में ही देखते रहे। अर्जुन को भी वे बार-बार अपनी माया से मोहित कर भ्रमित करते रहे। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में तेईसवें अध्याय के प्रसंगानुसार

स्वर्ग की कामना से आंगिरस नामक यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणों ने श्रीकृष्ण को एक सामान्य ग्वाला समझा—  
तं ब्रह्म परमं साक्षाद् भगवन्तमधोक्षजम्।  
मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे॥

(१०.२३.११)

इन्द्रियातीत परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ग्वाल-बालों के द्वारा भात माँग रहे हैं। परन्तु इन मूर्खों ने जो अपने को शरीर ही मान बैठे हैं, भगवान् को एक साधारण मनुष्य ही माना और उनका सम्मान नहीं किया।

दूसरी ओर उन्हीं की पत्नियों ने उन्हें अन्तर्यामी भक्तवत्सल भगवान् के रूप में पहचाना (भागवत : १०.२३.२६)। ठीक इसी प्रकार विदुर, विदुरपत्नी एवं भीष्म पितामह श्रीकृष्ण को भगवान् के रूप में ही देखते एवं जानते रहे।

रामावतार में भी कुछ विशिष्ट गुणातीत पुरुषों को छोड़कर प्रायः सभी ने उन्हें एक राजकुमार के रूप में ही देखा। यहाँ तक कि महाराज दशरथ एवं कौसल्या भी उनकी माया से बार-बार मोहित होकर भ्रमित रहे। रावण अपनी तामसी दृष्टि के ही कारण अन्तिम समय तक संशय की स्थिति में रहा और अन्त तक यह सुनिश्चित नहीं कर सका कि परब्रह्म ही मानवरूप में श्रीराम हैं। श्री सीता-रामजी को जिन्होंने सुनिश्चित रूप से ब्रह्मावतार के रूप में देखा, वे निश्चित रूप से गुणातीत दृष्टियुक्त थे।

परमात्मा के अनन्त रूप हैं, उनमें कुछ रूप सदैव प्रत्यक्ष होते हुए भी गुणाबद्ध पुरुष उन्हें कैसे स्वीकार कर सकता है। गुणातीत दृष्टियों से सम्बन्धित 'मानस' के कुछ उद्धरण सन्दर्भगत चिन्तन हेतु प्रस्तुत हैं।

शबरी की गुणातीत दृष्टि—

सबरी देखि राम गृहँ आए।  
मुनि के बचन समुझि जियँ भाए॥

प्रेम मगन मुख बचन न आवा।  
पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥

अत्रि की गुणातीत दृष्टि—

देखि राम छबि नयन जुड़ाने।  
सादर निज आश्रम तब आने॥  
करि पूजा कहि बचन सुहाए।  
दिए मूल फल प्रभु मन भाए॥

जासु कृपा अज सिव सनकादी।  
चहत सकल परमारथवादी॥

सरभंग की गुणातीत दृष्टि—

देखि राम मुख पंकज मुनिवर लोचन भृंग।  
सादर पान करत अति धन्य धन्य सरभंग॥  
कह मुनि सुनु रघुवीर कृपाला।  
संकर मानस राज मराला॥

गिद्धराज जटायु की गुणातीत दृष्टि—

कर सरोज सिर परसेउ, कृपा सिन्धु रघुवीर।  
निरखि राम छविधाम मुख, विगत भई सब पीर॥  
तब कह गीध बचन धरि धीरा।  
सुनुहु राम भंजन भव भीरा॥

प्रभु को पहचानना सहज नहीं है। तामसी वृत्तियुक्त तिर्यक् योनि-जनित आमिषभोजी गिद्धराज जटायु ने परमात्मा को कैसे पहचाना? जिस प्रकार आसक्ति-रहित गुणातीत अवस्था को प्राप्त जड़ भरत सद्यः घटना-विशेष से मृगयोनि में जनमे अवश्य थे, परन्तु उनकी न तो स्मृति नष्ट हुई और न ही त्रिगुण-संयोग हुआ। उसी प्रकार गिद्धराज जटायु भी किसी घटना-विशेष से तिर्यक् योनि को प्राप्त गुणातीत अवस्था का कोई सिद्ध रहा होगा। इसीलिए उसने अपनी गुणातीत दृष्टि से प्रभु को पहचाना। यह तथ्य इससे भी स्पष्ट होता है कि वह अपनी पूर्वस्मृति के आधार पर ही यह वेदोक्त वचन बोला होगा—

जाकर नाम मरत मुख आवा।  
अधमौ मुकुत होइ स्रुति गावा॥

बाली की गुणातीत दृष्टि—

परा विकल महि सर के लागें।  
पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगें।।  
स्यामगात सिर जटा बनाएँ।  
अरुन नयन सर चाप चढ़ाएँ।।  
पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा।  
सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा।।

यहाँ जटायु एवं बाली के सम्बन्ध में यह भी सम्भाव्य है कि जिसपर प्रभु कृपा करते हैं, उसकी दृष्टि सद्यः परिवर्तित होकर गुणातीत हो जाती है; क्योंकि प्रभु माया का कर्षण कर लेते हैं। 'मानस' में विभिन्न दृष्टियों से अनेकशः उद्धरण उपलब्ध हैं। यहाँ कलेवर-वृद्धि के भय से उनका प्रस्तुतीकरण सम्भव नहीं है।

वस्तुतः मानस में राम ब्रह्मावतार, लक्ष्मण शेषावतार, भरत चक्रावतार, शत्रुघ्न शंखावतार होने के साथ अधिकांश पात्र नित्ययुक्त, सिद्ध, गुणातीत, कारक पुरुष हैं; अतः उनकी वास्तविक दृष्टि तो गुणातीत ही है। कारक पुरुष भगवद्कृपा से गुणाबद्ध नहीं होते, परन्तु माया-मानव रूप से भगवत्-लीला में सहयोग हेतु अभिनय करते हुए गुणाबद्ध प्रतीत होते हैं। यहाँ 'मानस' में गुणाबद्ध प्रतीत पात्रों की लीलायुक्त दृष्टियों को ही तदनुसार प्रस्तुत करने का प्रयोजन मानवीय दृष्टियों से विवेचनात्मक चिन्तन करना है।

हमें कोई व्यक्ति कभी बहुत अच्छा अर्थात् सद्गुणों का भण्डार तो कभी वही व्यक्ति दुर्गुणों का भण्डार-सा दृष्टिगत होता है। इस अनुभूतिजन्य तथ्य के आधार पर हमें यह त्रिगुण-संयोग सदा परिवर्तित होता प्रतीत होता है, जिसके परिणाम-स्वरूप हमारे अन्दर राग-द्वेष, प्रेम-घृणा, हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, क्रोध-शान्ति, हास्य-रुदन आदि की स्थितियाँ शीघ्रता से बनती-बिगड़ती रहती हैं।

यहाँ यह आभासित होता है कि महापुरुषों में इस त्रिगुण-संयोग की स्थिरता अपेक्षाकृत बहुत अधिक होती है। वे अपने में आहार-विहार तथा स्वविवेक से सत्त्वगुण की अभिवृद्धि के साथ त्रिगुण-संयोग की अभ्यासजन्य स्थिरता सुनिश्चित करते हैं। यही कारण है कि उनकी बुद्धि, दृष्टि, धृति आदि में स्थिरता परिलक्षित होने लगती है, जबकि हमारी दृष्टि कभी सत्त्व की प्रबलता से सात्त्विक, कभी रज की बहुलता से राजसी तथा कभी तम की अधिकता से तामसी हो जाती है।

स्पष्ट है कि हम अपनी दृष्टि के अनुरूप देखते हैं। हमें 'मानस' के परिप्रेक्ष्य में विचार करना है कि हमारी दृष्टि कैसी है? हम अपने दृष्टिदोष के कारण अपने दोषों को दूसरे में आरोपित करते हैं। इसी दृष्टिदोष के सम्बन्ध में गोस्वामीजी कहते हैं—

नयन दोष जा कहँ जब होई।

पीत बरन ससि कहँ कह सोई।।

जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा।

सो कह पच्छिम उगेउ दिनेसा।।

नौकारूढ चलत जग देखा।

अचल मोहबस आपुहि लेखा।।

दृष्टिदोषों का निवारण और दृष्टि की उत्कर्षता के हेतु निरन्तर अभ्यासजन्य प्रयास वास्तव में साधना है। यदि हम अपने दृष्टि-दोषों (बुराइयों) को जान और समझ सकें तो उनका क्षरण होता है। 'जाने ते छीजहिं कुछ पापी', अतः दृष्टि की उत्कर्षता हेतु विवेकयुक्त अभ्यासजन्य प्रयास परमावश्यक है। स्वदृष्टि-परिवर्तन का प्रयास एक साधना है।

जनता महाविद्यालय,

अजीतमल (औरैया),

पिन कोड-२०६१२१



## हिन्दी के प्रचार-प्रसार में धर्म-संवाहकों का योगदान

□ डा० तारकेश्वर नाथ सिन्हा

हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी प्राचीन भारतीय आर्यकालीन भाषा संस्कृत की औरस कन्या है। संस्कृत के बाद पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं से होती हुई इसने आधुनिक हिन्दी में प्रवेश किया है। अवधी, मैथिली, ब्रजी, मगही आदि लोकभाषाओं ने भी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से आधुनिक हिन्दी का भरपूर साज-शृंगार किया है।

हिन्दी की मूल प्रकृति आरम्भ से ही धर्ममूलक रही है। यदि हिन्दीसाहित्य के आदिकाल पर दृष्टिपात करते हैं तो पता चलता है कि हिन्दीसाहित्य को पल्लवित-पुष्पित करने में धर्म का बड़ा हाथ रहा है। सिद्धों और नाथों ने अपने धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन काव्यमयी भाषा में किया। यद्यपि उनकी भाषा तत्कालीन लोकभाषा थी, तथापि उस काल में लोकभाषा और राष्ट्रभाषा का कोई विभाजन ही नहीं था।

सिद्धों की भाषा मागधी अपभ्रंश थी। सिद्ध-साहित्य के शीर्षस्थ कवि सरहपाद को प्राचीन मगही का कवि सिद्ध किया गया है। इसके भरपूर प्रमाण भी हैं। अतः सिद्धों तथा नाथों की काव्यभाषा, जो तत्कालीन लोकभाषा ही थी, उनकी सम्पूर्ण कृतियों को आज राष्ट्रभाषा की श्रेणी में ही रखकर अध्ययन-मनन किया जाता है।

हिन्दीसाहित्य का भक्तिकाल, जो स्वर्णयुग के नाम से हिन्दीसाहित्य के इतिहास में सुविख्यात है, उसकी भाषा भी मुख्य रूप से ब्रजी और अवधी है। सिद्धों और नाथों की भाँति उस काल में निर्गुणवादी और सगुणवादी प्रमुख धर्मसंवाहकों तथा सन्त कवियों ने अपने विपुल एवं उत्कृष्ट

भक्तिसाहित्य से भारती के भण्डार को परिपूर्ण करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। कबीर, कुतुबन, मंझन, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा, घनानन्द, नन्ददास, कुम्भनदास, छीतस्वामी आदि के प्रवचन-केन्द्रों एवं धार्मिक संस्थानों के माध्यम से हिन्दीसाहित्य के दिव्यांग में अनेक मणि-माणिक्य जगमगाने लगे, जो आज बरबस हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं।

महात्मा कबीर के अनुयायी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में हैं। जगह-जगह इनके मठ हैं, जहाँ के कबीरपन्थी निरगुनिया सन्त-साहित्य हिन्दी में विख्यात हैं। इनके अनुयायी संवाहक भी कबीर की सधुक्कड़ी भाषा में ज्ञान के जल से स्नान कराते हैं। श्री कबीर ज्ञान प्रकाशन केन्द्र, गिरिडीह से 'श्री कबीर ज्ञानामृत' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित हो रही है। इसकी सम्पादिका कमलिनी साध्वी हैं। इसमें कबीरदास के अनुयायी सन्तों के उत्कृष्ट आलेख प्रकाशित किए जाते हैं। सभी आलेख सन्तों की वाणियों से ओत-प्रोत होते हैं। इसमें उनकी वाणियों के गूढ़ रहस्यों की सहज व्याख्या मिलती है। इसकी भाषा सधी समुन्नत तथा सधुक्कड़ी होती है।

जैन धर्मावलम्बियों ने भी हिन्दी में अनेक पुस्तकों का प्रकाशन किया है। अनेक मठों के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सन्त सधुक्कड़ी भाषा में अपने प्रवचन से जैनियों को परम धर्म अहिंसा की प्रेरणा देकर मानवता का सन्देश दिया करते हैं।

हिन्दी राष्ट्रभाषा के प्रचार-प्रसार में ईसाई मिशनरियों का कम योगदान नहीं है। ईसा मसीह-विषयक हिन्दी में विरचित जीवनी तथा साहित्य की अनेक पुस्तकें मुफ्त अथवा बहुत ही कम कीमत

पर उपलब्ध कराई जाती हैं। ईसाई सन्त भी अपने विचार हिन्दी में प्रकट कर इस भाषा के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

आनन्दमार्ग के संस्थापक बाबा आनन्दजी के द्वारा लिखित अनेक पुस्तकें हिन्दी में उपलब्ध हैं। आनन्दमार्ग की अनेक संस्थाएँ कार्यरत हैं, जिन्होंने अँगरेजी भाषा के साथ-साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी की भी अपने विचार-विनिमय का अंश बनाया है। आनन्दमार्ग से हिन्दी की पत्रिकाएँ भी निकलती हैं।

राष्ट्रभाषा के प्रसार-प्रचार में स्वामी दयानन्द सरस्वती का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वे वैदिक धर्म के सच्चे संवाहक थे। हिन्दूसमाज में प्रचलित रीति-रिवाज और कर्मकाण्डों में सुधार करना उनके जीवन का प्रथम उद्देश्य था। उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना ७ अप्रैल, १८७५ ई० को मुम्बई में की। हिन्दी भाषा अथवा साहित्य का इतिहास लिखने वाले सभी विद्वानों ने हिन्दीगद्य के निर्माण में आर्यसमाज के योगदान को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है।

महर्षि दयानन्द एक व्यावहारिक सन्त थे। अतः देश की सार्वजनिक गतिविधियों से जुड़कर वे आर्यसमाज का प्रचार करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करते हुए अपने मत का प्रचार किया और अनुभव किया कि ऐसी भाषा का प्रचार किया जाए, जिससे उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम हर जगह काम चलाया जा सके। यह भाषा राष्ट्रभाषा हिन्दी थी। उन्होंने घोषणा की कि प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए हिन्दी आवश्यक है और हिन्दी ही आर्यसमाज अर्थात् समस्त देश की भाषा है। उन्होंने यह भी निर्णय लिया कि आर्यसमाज का समस्त साहित्य हिन्दी में प्रकाशित हो और हिन्दी ही इसके प्रचार का मुख्य माध्यम हो।

हिन्दी के माध्यम से ही वे भारत में सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं धार्मिक एकता की स्थापना करने हेतु कृतसंकल्प थे। स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायियों में हिन्दी के प्रति पर्याप्त उत्साह था। ग्रन्थों की रचना करने के अतिरिक्त उन्होंने कई

मासिक और साप्ताहिक हिन्दी पत्रिकाएँ भी निकालना आरम्भ किया। इससे हिन्दी की पर्याप्त प्रगति हुई। प्रान्तीयता, जातिभेद और अन्य सीमाओं को लाँघकर आर्यसमाज की स्थापना विभिन्न नगरों में हुई, वहाँ हिन्दीप्रेम भी पहुँचा। इसी क्रम में स्वामी दयानन्द ने संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद भी किया। इनमें प्रमुख 'वेदभाष्य' और 'संस्कारविधि' हैं। हिन्दी भाषा को दयानन्द से वैदिक साहित्य की बहुमूल्य निधि मिली है।

'सत्यार्थ प्रकाश' स्वामी दयानन्द का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कोई भी ऐसा विषय नहीं, जिसपर उन्होंने प्रकाश न डाला हो। उनकी मातृभाषा गुजराती होने के कारण और संस्कृत-अध्ययन के कारण तथा मथुरा में दीर्घकालीन निवास के कारण व्रजभाषा—इन तीन भाषाशैलियों का मिश्रण 'सत्यार्थ प्रकाश' में मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द में समन्वयात्मक दृष्टि थी और इस उद्देश्य के पूर्ति के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी उनके लिए साधन-रूप थी। उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचारार्थ जन-जागृति के आह्वान हेतु हिन्दी भाषा को मान्यता प्रदान कर उसकी उन्नति के द्वार का उद्घाटन किया।

धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और शिक्षा के क्षेत्र में स्वामी दयानन्द की सेवा अद्वितीय है। हिन्दी के लिए राष्ट्रभाषा के भवन-निर्माण की नींव भी उन्होंने रखी। इस प्रकार एक महान् धार्मिक आचार्य दयानन्द के वेदों के अधिकृत ज्ञान, उनके प्रबल सुधारवाद, ओजस्वी व्यक्तित्व, लेखन और प्रचार से हिन्दी भाषा को अभूतपूर्व गति मिली, व्यापकता और लोकप्रियता भी मिली।

हिन्दी राष्ट्रभाषा के स्वरूप-निर्धारण में रामायण, महाभारत आदि अमर ग्रन्थों, अपभ्रंश में लिखित अनेक ग्रन्थ, बौद्ध, जैन, ईसाई धर्मों के अनेक साहित्य का अन्यतम सहयोग रहा है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रसार-प्रचार में श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार का नाम धार्मिक रूप में जुड़ा है। उन्होंने १९२२ ई० में हिन्दी की सर्वाधिक लोकप्रिय 'कल्याण' नामक

उत्कृष्ट धार्मिक पत्रिका प्रकाशित की, जिसकी ढाई लाख प्रतियाँ प्रत्येक माह प्रकाशित होती हैं। इस पत्रिका के माध्यम से धार्मिक साहित्य के आलेख प्रकाशित किए जाते हैं। भारत के विभिन्न गाँवों तक इसकी व्यापक पैठ है। हिन्दी के पौराणिक एवं धार्मिक साहित्य को लोकप्रिय एवं सर्वजन-सुलभ बनाने में गीताप्रेस, गोरखपुर की भूमिका अत्यन्त सराहनीय एवं प्रशंसनीय रही है।

यद्यपि बंगाल प्रदेश की बोल-चाल की भाषा बंगला है, तथापि वहाँ से धार्मिक हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों का प्रकाशन पूर्वकाल से ही होता चला आ रहा है। 'रामकृष्ण मिशन' से 'समन्वय' पत्रिका निकला करती थी, जिसमें हिन्दी के महाकवि पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के दार्शनिक लेख छपा करते थे। उन्होंने कुछ दिनों के लिए यहाँ के सम्पादकीय विभाग में भी कार्य किया था। बिहार के बोध गया, नालन्दा आदि धार्मिक स्थलों से बौद्ध साहित्य एवं पत्रिकाओं का प्रकाशन भी समय-समय पर हुआ करता है, जिसकी भाषा प्रमुख रूप से राष्ट्रभाषा हिन्दी ही है।

युगनिर्माण मन्दिर, हरिद्वार धार्मिक प्रचार का मुख्य केन्द्र रहा है। श्रीराम शर्मा आचार्य इसके संस्थापक थे। इन्होंने हिन्दू वैष्णव धर्म को व्यापक बनाने का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इन्होंने आडम्बर और ढोंग-रहित सनातन वैदिक धर्म का प्रचार हिन्दी भाषा के माध्यम से किया है।

उसकी हिन्दी मासिक पत्रिका 'अखण्ड-ज्योति' भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी हिन्दी-सेवियों के बीच प्रतिष्ठित होती रही है। इसकी भाषा अत्यन्त प्रांजल, निर्भीक, सहज और सुरुचिपूर्ण है। इस पत्रिका में राष्ट्रभाषा के सच्चे स्वरूप के दर्शन होते हैं। युगनिर्माण से नारे के रूप में अनेक उपदेशात्मक वाक्यों के कैलेण्डर, स्टीकर एवं डायरी भी प्रकाशित हैं। उपदेशात्मकता के साथ-साथ व्यावहारिकता का मणि-कांचन-संयोग भी इनमें स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

युग-निर्माण मन्दिर, हरिद्वार से प्रकाशित पुस्तकें एवं साहित्य हिन्दी के प्रचार-प्रसार के प्रमुख स्तम्भ हैं। इस संस्था से जुड़े अनेक सन्त स्थान-स्थान पर अपने कार्यक्रम आयोजित कर अपने निष्कलुष विचारों से जन-समुदाय को ज्ञानामृत का घूँट पिलाते रहते हैं।

हिन्दी के व्यापक प्रचार-प्रसार में आचार्य रजनीश का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। वे अन्तरराष्ट्रीय स्तर के महान् चिन्तक, विचारक, सन्त एवं दार्शनिक रहे हैं। उनके अनेक प्रवचन अँगरेजी एवं हिन्दी भाषा में हैं, जो विडियो, टेप एवं पुस्तकों के रूप में संकलित हैं। उनकी पुस्तकों का संकलन अपने-आप में एक पुस्तकालय का रूप धारण कर लेता है। उनकी विचारोत्तेजक गम्भीर पुस्तकें सत्यता की कसौटी पर शत-प्रतिशत खरी उतरती हैं। उनकी प्रवाहमयी हिन्दी भाषा एक ओर पाठकों को आकर्षित कर लेती है तो दूसरी ओर उनका तर्क ढोंगियों और बाह्याडम्बरियों का मुँह तोड़ उतर देता है। उनके धर्म एवं दर्शन-सम्बन्धी मतों पर भारत तथा विदेश के जाने-माने लोग भी न्योछावर हो जाते हैं। उनके प्रवचन अपने-आप में कविता हैं, जो अपनी लावण्यता तथा माधुर्य-भावना के लिए विश्व-विख्यात हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार में उनकी अभूतपूर्व भूमिका है।

कोरेगाँव, पुणे से उनकी मासिक पत्रिका 'आशो टाइम्स' अबाधगति से निकलती है। इसके प्रधान सम्पादक माँ अमृत साधना हैं। भारत एवं विदेश के प्रायः प्रमुख नगरों में इनके अनुयायी पाए जाते हैं, जो इनके विचारों के प्रसार-प्रचार में निरन्तर तल्लीन रहते हैं।

पटना से प्रकाशित पत्रिका 'धर्मायण' का भी धर्मप्रचार के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह प्रसिद्ध महावीर मन्दिर से निकलती है। भारत तथा बिहार के स्तरीय धर्मचिन्तकों एवं विद्वानों के लेख इसमें प्रकाशित किए जाते हैं। अल्पावधि में ही धार्मिक साहित्यिक जगत् में इस पत्रिका ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने का स्तुत्य कार्य किया है।

हिन्दू धर्म के प्रति नवजागरण-किरणों का प्रस्फुटन १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विशेष रूप से हुआ था। इसी कालखण्ड में अनेक धार्मिक संस्थाओं की स्थापना अनेक नगरों में की गई थी, जिनके माध्यम से हिन्दी भाषा को भी अतिरिक्त लोकप्रियता प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ भारतेन्दु-काल के प्रमुख साहित्यकार पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने १८८२ ई० और उसके आस-पास के वर्षों में बिहार के विभिन्न नगरों में धर्मसमाज की स्थापना की थी, जिनके माध्यम से हिन्दी भाषा में हिन्दूधर्म की उत्कृष्टता और श्रेष्ठता पर विद्वानों द्वारा प्रवचन किए जाते थे। ऐसी प्रवचन-सभाओं में जनता की सक्रिय भागीदारी विशेष रूप से होती थी।

यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि व्यासजी द्वारा स्थापित धर्मसमाज गया, मोतिहारी, मुजफ्फरपुर, चम्पारण आदि नगरों में आज भी जीवित हैं। मुजफ्फरपुर में उनके द्वारा स्थापित धर्मसमाज २० वीं शताब्दी के प्रथम चरम में संस्कृत कालेज के रूप में परिणत हो गया, जो सम्पूर्ण उत्तर बिहार का सबसे बड़ा संस्कृत कालेज है। इसी प्रकार खड़ी बोली हिन्दीकाव्य में संस्कृत छन्दों का प्रथम प्रयोग करनेवाले कवि चन्द्रशेखरधर मिश्र ने १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चम्पारण के सुदूर क्षेत्र में 'विद्याधर्म-वर्द्धनी' सभा की स्थापना की थी, जो वस्तुतः हिन्दू-धर्मप्रचार की ही संस्था थी और इसी संस्था ने 'विद्या-धर्मदीपिका' को भी जन्म दिया, जो खड़ी बोली हिन्दीकाव्य को प्रतिष्ठापित करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई।

विस्तार रूप से ज्यादा कुछ कहना सम्भव नहीं होगा, किन्तु इतना तो सत्य है कि भारत की अनेक धार्मिक संस्थाओं ने हिन्दी भाषा को ही अपने प्रचार का माध्यम बनाया, जिससे हिन्दी की शक्ति और ऊर्जा में अभिवृद्धि ही हुई। इस तथ्य की एक लम्बी परम्परा रही है और यह परम्परा आज भी गतिशील है।

इस प्रकार आरम्भ से ही भारत ऋषि-महर्षियों, ज्ञान-विज्ञान एवं धर्म-संवाहकों का तपःस्थल रहा है। यहाँ के अनेक साधु-सन्त और मठाधीश अपने-अपने विभिन्न पन्थों तथा धर्मों का प्रचार-प्रसार राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से ही किया करते हैं। आज भी गया, बोधगया, नालन्दा, पटना, पावापुरी, मथुरा, अयोध्या, मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता, काशी आदि में अनेक सन्त, ऋषि तथा धर्म-संवाहक हैं, जो हिन्दी भाषा में प्रदत्त अपने प्रवचनों से जनमानस को आप्लावित किया करते हैं।

आसाराम बापू, किरीट भाई, मूदुला, माँ भारती, आनन्दमूर्ति गुरु माँ की अमृत वर्षा, सुधांशुजी महाराज का 'जागरण' सरीखे अनेक सन्त हिन्दू तथा मानव धर्मों के प्रचार-प्रसार में समर्पित हैं। इन सभी सन्तों ने हिन्दी राष्ट्रभाषा को ही अपने प्रवचन का प्रमुख माध्यम बनाया है। इनके प्रवचन हिन्दी के धार्मिक पत्र-पत्रिकाओं में छपते हैं या कभी-कभी पुस्तक अथवा ग्रन्थ का रूप भी ले लेते हैं। अब तो इनके प्रवचन के टेप के विडियो कैसेट भी उपलब्ध हैं। दूरदर्शन के अनेक चैनलों से इन धार्मिक महात्माओं के प्रवचन प्रसारित होकर सर्वजन सुलभ हो रहे हैं। इस घोर अशान्ति के युग में इनके शान्ति-सन्देश अत्यन्त लोकप्रिय भी सिद्ध हुए हैं। अतः हिन्दी राष्ट्रभाषा के प्रचार-प्रसार में धार्मिक संवाहकों, धार्मिक संस्थाओं और पत्र-पत्रिकाओं की प्रमुख भूमिका आरम्भ से ही रही है। इस ऐतिहासिक भूमिका की अवहेलना नहीं की जा सकती है।

पूर्व विश्वविद्यालय प्राचार्य,  
स्नातकोत्तर हिन्दीविभाग, गया कालेज,  
गया (बिहार), ज्ञाननिकेतन,  
आनन्द विहार कालोनी,  
गया- ८२३००१



## कविवर रहीम की भक्ति-भावना

□ डी० आर० ब्रह्मचारी

भक्ति और कुछ नहीं, अपने आराध्य आलम्बन के प्रति प्रीतिपूर्ण श्रद्धा, अखण्ड विश्वास तथा उससे एकाकारिता का भाव है। वह देश-काल या पात्र में, किसी की वशवर्तिनी नहीं होती। वह अनुरागी चित्त की सहज भावोद्भक्ति है। 'भक्ति करे कोई शूरमा जाति बरन कुल खोय।' रसखान हों या मीरा; रहीम हों या कुम्भन; ताज हों या अन्दाल, अपनी संवेदनशील ऊर्जा को श्रद्धापूर्वक ऊर्ध्वोन्मुख बनाते हुए न केवल अपने पूज्य के श्रीचरणों में अर्पित-निवेदित कर वे बन्धनमुक्त हो सके, अपितु सारी चिन्ताओं से रहित होकर सहजता का जीवन भी जी सके, आडम्बर-मुक्त होकर।

रहीम का परिवेश मुगल सल्तनत का था। स्वयं वे बादशाहत-खानखाना, जागीरदारी, नवाबी-सूबेदारी प्राप्त कर चुके थे। अकबर के समीपी ही नहीं, उनके प्रिय पात्रों में होने के बावजूद सत्तासुख की चर्बी को न तो कभी आँखों पर चढ़ने दिया, न आत्मा को बेचा ही। और न किसी प्राकृत जन के स्तुति-प्रशस्त गान से अपनी सरस्वती को लांछित ही होने दिया। उनके समक्ष सदा जनसाधारण का जीवन रहा, जिसे सजाने-सँवारने में ही अपनी प्रतिभा का सदुपयोग समझा। वैदुष्य और तजुर्बा को चरितार्थ किया, सार्थक बनाया। उनकी स्पष्ट मान्यता है—

जो रहीम तन हाथ है, मनसा कहुँ किन जाहिं।

जल में जो छाया परी, काया भींजति नाहिं।।

वह क्रिया 'योग' है— योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

सम्पन्नता और दीनता— दोनों में वे दीनता को इसलिए सराहते हैं कि दीनता ही दीन को 'दीनबन्धु' के समीप लाती है, सम्पन्नता तो कोसों दूर रखती है—

दिव्य दीनता के रसहिं, क्या जाने जग अन्धु।

भलो बिचारी दीनता, दीनबन्धु से बन्धु।।

लोगों के दुःख को सुनकर लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं, उपहास करते हैं, परिणाम-स्वरूप धैर्य जवाब देने लगता है, लोग धैर्यच्युत हो जाते हैं, पर एक श्रीराम ही हैं जो कहने पर सुनते हैं और सुन-सुनकर सहायता प्रदान करने में कसर नहीं उठाते—

दुख नर सुनि हाँसी करै, धरत रहीम न धीर।

कही सुनै, सुनि-सुनि करै, ऐसो वै रघुबीर।।

कविवर रहीम कहते हैं कि प्रभु अर्ज सुनते ही सद्यः द्रवित हो उठते हैं और उसका दुःख निवारण करते हैं। किस दिन हाथी से उनकी जान-पहचान हुई थी?

अरज सुनत लरजै तुरत, गरज मिटाई आन।

कहि रहीम का दिन हुती, हरि-हाथी पहचान?

बड़े व्यक्ति निश्चित रूप से दयार्द्र हो उठते हैं। रहीम कवि कहते हैं कि भगवान् विष्णु की गजराज से कबकी दोस्ती थी, जो ग्राह के दुर्दान्त जबड़े से— भीषण पीड़ा से उसको मुक्ति दिलाई थी।

हाथी चलता है तो अपनी सूँड़ से धूल उठाकर सिर पर रख लेता है। ऐसा क्यों? कवि रहीम कहते हैं कि ऐसा इसलिए कि जिन चरणों की



धूल से गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या तरी थी, गजराज उसी धूल को खोजता रहता है और उसी के सन्धान के क्रम में ऐसा करता रहता है कि कहीं यह धूल वही तो नहीं?

**धूर धरत निज सीस पर, कहु रहीम केहि काज ।**

**जेहि रज मुनि पत्नी तरी, सो ढूँढत गजराज । ।**

अब्दुल रहीम ने भक्ति को आदर्श मानकर कोई प्रबन्ध तैयार नहीं किया, न किसी सम्प्रदाय की चौहद्दी का समर्थन ही किया और न किसी गुरु-चेले के फेरे का पड़े। उनकी भक्ति कर्म से विमुख भी कतई नहीं रही है, 'दैव-दैव आलसी पुकारा'-जैसी। वे तन से कर्म और मन से भक्ति पर विश्वास रखनेवाले जीव थे-

**तन रहीम है कर्म बस, मन राखो ओहि ओर ।**

**जल में उलटी नाव ज्यों, खँचत गुन के जोर । ।**

जैसे जल में नाव को लक्ष्य तक ले जाने के लिए बहाव के प्रतिकूल रस्सी को खींचा जाता है, वैसे ही कर्म करते शरीररूपी नाव को भक्ति की रस्सी के सहारे लक्ष्य तक पहुँचाना चाहिए।

मनुष्य को फल की चिन्ता में कभी नहीं मरना चाहिए- 'मा फलेषु कदाचन' क्योंकि-

**रन बन ब्याधि बिपत्ति में, रहिमन मरै न कोय ।**

**जो रच्छक जननी जठर, सो हरि गए कि सोय । ।**

भीषण रणक्षेत्र में, घनघोर जंगल में, भयानक दुःख में या किसी भी प्रकार की विपत्ति में चिन्तातुर नहीं होना चाहिए। कदापि नहीं। दृष्टि से दूर माता के गर्भ में जिसने रक्षा की थी, वे प्रभु भला, कैसे सो सकते हैं?- **अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।**

केवल सूखे पुरुषार्थ से सम्पत्ति मिलती हो, ऐसी बात नहीं। उसके लिए और कुछ चाहिए। आखिर भीम-जैसा पराक्रमी-पुरुषार्थी को क्यों तपना पड़ा था-

**जो पुरुषारथ ते कहु, सम्पति मिलत रहीम ।**

**पेट लागि वैराट घर, तपत रसोई भीम । ।**

उनकी भक्ति भुलाती नहीं, सुलाती नहीं, सुलाती भी नहीं। जगाती है, जिलाती है, जीवनोन्मुख बनाती है, कर्तव्यपथ पर अग्रसर करती है। रहीम न तो भक्ति को भुनाते हैं, न उसके माध्यम से भुलाते हैं; क्योंकि उनकी पृष्ठभूमि राजनीति की रही है, जहाँ कौन-सा कुकर्म नहीं होता। उनकी भक्ति शुद्ध भक्ति है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

**माँगे मुकरि न को गयो, केहि न त्यागियो साथ ।**

**माँगत आगे सुख लह्यो, ते रहीम रघुनाथ । ।**

संसार में प्रायः लोग माँगने पर मुकर जाते हैं, साथ त्याग देते हैं, किन्तु माँगने के पूर्व ही दे डालनेवाले एक रघुनाथ ही हैं। विभीषण ने क्या माँगा था, जो उसे बिना माँगे ही लंका का राज्य दे डाला?

सगुण-निर्गुण, ज्ञानाश्रयी-प्रेमाश्रयी, रामावत-कृष्णावत से दूर उनकी भक्ति सामान्य जन की भक्ति है। एक तरफ यदि मुनि नारी पाषाण ही, कपि पसु गुह मातंग। तीनो तारे रामजू, तीनो मेरे अंग ।। कहकर श्रीराम के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित की है तो दूसरी ओर रहिमन कोई का करै, ज्वारी चोर लबार । जो पत राखनहार हैं, माखन चाखनहार ।। कहकर श्रीकृष्ण के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा व्यंजित की है। यही नहीं, जो रहीम करिबौ हुतौ, ब्रज को इहै हवाल । तो काहे कर पर धर्यौ, गोवर्धन गोपाल ।।

अर्थात् ब्रज की दुर्दशा करानी ही थी तो गोवर्धन को कनिष्ठिका पर उठाकर उसे बचाया ही क्यों था?- लिखकर अपनी अगाध आत्मीयता को मानो उपालम्भ के बहाने साकार कर दिखाया है; वे नैष्ठिक कृष्णभक्त से किंचित् कम नहीं।

रहीम की ऐसा पंक्तियों को देखकर न केवल बिना प्रयास के ही, ग्रियर्सन महोदय की यह अवधारणा निरस्त हो जाती है कि भक्ति ईसाइयत

की देन है, बल्कि शुक्लजी का यह कथन भी स्वतः खण्डित हो जाता है कि 'जब मुस्लिम साम्राज्य दूर-दूर तक स्थापित हो गया था, तब परस्पर लड़नेवाले स्वराज्य नहीं रह गए। इतने भारी उलट-फेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?' फिर रसखान और ताज का क्या होगा, जो यह कहने को विवश करते हैं—

इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिक हिन्दू वारिये।  
रसखान का सवैया है—

बैन वही उनको गुण गाई औ'  
कान वही उन बैन सो सानी।  
हाथ वही उन गात सरै अरु  
पाई वही जु वही अनुजानी।।  
जान वही उन प्रान के संग औ  
मान वही जु करै मनमानी।  
त्योँ रसखानि वही रसखानि जु  
है रसखानि सो है रसखानी।।

और 'ताज' का तो कहना ही क्या—

सुनो दिल जानी, मेरे दिल की कहानी, तुम  
दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहौंगी मैं।  
देव-पूजा ठानि निवाज हूँ भुलानी मैं  
तजे कलमा-कुरान साड़े गुननि गहौंगी मैं।  
सांवाला सलोना सिर ताज सिरकुल्ले दिए,  
तेरी नेह-आग में निदाघ है दहौंगी मैं।  
नन्द के कुमार कुरबान ताँड़ी सूरत पै,  
हूँ तो मुगलानी, हिंदुआनी है रहौंगी मैं।  
शाहजहाँ की पंक्ति है—

जनमत ही लखदान दियो अरु  
नाम रख्यो नवरंग बिहारी।

बालहिं सो प्रतिपाल कियो अरु  
देस मुलुक दियो दल मारी।  
सो सुत बैर बुझै मन में धरि  
हाथ दियो बँधसार में डारी,  
शाहजहाँ बिनवै हरि सो बलि  
राजिवनैन रजाय तिहारी।

रसखान, ताज और शाहजहाँ के बाद अब 'पौरुष से हताश जाति' की भावना द्रष्टव्य है—  
अबके सुलतान भये फुहियान-से  
बाँधत पाग अटब्बर की।  
नर की नरकी कविता जु करै  
तेहि काटिए जीभ सुलब्बर की।  
इक श्रीधर आस हैं श्रीधर की  
नहिं त्रास अहै कोउ बब्बर की।  
जिनको नहिं आस कछू जग में  
सो करो मिलि आस अकब्बर की।

दिनकरजी लिखते हैं— 'श्रीधर' ने ऐसे सभी कवियों को फटकारते हुए जो प्रभावपूर्ण सवैया लिखा, वह हमेशा कवियों के समक्ष टाँगने योग्य है। इस सवैये में अकबर की अवज्ञा तो है ही, कुछ थोड़ी अवज्ञा अकबर के दादा बाबर की भी है। किन्तु कवि के भाव में साम्प्रदायिकता की गन्ध तक नहीं है। वह केवल कवि के स्वभाव-जनित अहंकार का विस्फोट है।

आगो वे लिखते हैं— दरबार चाहे अकबर का हो या आधुनिक शासकों का, वहाँ जो पण्डित हाजिरी देने जाता है, वह किसी लोभ से ही जाता है।

(संस्कृति के चार अध्याय, पुनर्मुद्रण :  
१९८६, पृ० ३५१)

जहाँ तक हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यता की बात है, जैसा कि रामस्वरूप चतुर्वेदी अपने 'हिन्दी-साहित्य और संवेदना का विकास' के पृष्ठ-३७ पर लिखते हैं— हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रिय शब्द

‘लोक’ है, जो जनता के अपेक्षाकृत पिछड़े वर्ग को संकेतित करता है। यों द्विवेदीजी की चिन्ता समाज के पिछड़े वर्ग की ओर अधिक है। किन्तु रहीम के सन्दर्भ में द्विवेदीजी का कथन भी जैसा रामस्वरूप चतुर्वेदी प्रस्तुत करते हैं, सटीक नहीं बैठता।

रहीम न तो ‘पौरुष से हताश जाति’ में उत्पन्न हुए थे और न पिछड़े वर्ग में आए थे, वे राजन्य संस्कृति से उत्पन्न थे। ऐसी बात भी नहीं कि उनके सारे दोहे उनके पराभव काल में ही लिखे गए होंगे।

‘अच्युत चरण तरंगिणी’ और ‘शिव सिर मालति माल’ भगवती गंगा से वे जब प्रार्थना करते हैं, तब कहते हैं कि मुझे विष्णु-रूप नहीं बनाना। बनाना भी तो शिव-रूप ही, क्योंकि विष्णु-रूप में ‘श्रीपदनख’ की सीमा है, किन्तु ‘शिव-सिर-मालती माल’ के शिव-रूप में जन-पक्षधरता है, जहाँ से गंगा उतरकर भगीरथ के अभिशप्त पितरों का उद्धार करती है। रहीम के दोहे में सर्वत्र जन-पक्षधरता ही उभरकर आई है, कहीं भी राज्य-सम्पोषण नहीं। वे कहते हैं—

जे गरीब सों हित करे, धनि रहीम ते लोग।

कहाँ सुदामा बापुरो, कृष्ण मितार्ई जोग।।

चाहे हाथी हो अथवा सुदामा या बेहाल व्रजवासी ही क्यों न हों अथवा गौतम-नारी अहल्या-जैसी प्रताड़िता ही क्यों न हो, रहीम के प्रभु हमेशा ऐसे लोगों पर कृपा करनेवाले हैं।

रहीम की आस्था तो ईश्वर के प्रति ऐसी है कि वे कहते हैं, बिना मूल के अमरबेलि की जो रक्षा कर सकता है, वैसे प्रभु को छोड़कर कहाँ, किसको खोजते फिरते हो—

अमरबेलि बिनु मूल को, प्रतिपालत है ताहि।

रहिमन ऐसे प्रभुहि तजि, खोजत फिरिए काहि।।

रहीम की आँखों में यदि ईश्वर के लिए स्थान है तो अन्य के लिए जगह ही कहाँ बचती है—

प्रीतम छवि नैननि बसी, पर छवि कहाँ समाय।

भरी सराय रहीम लखि, पथिक आय फिरि जाय।।

इनकी स्पृहणीय निस्पृहता का एक उदाहरण है, तुलसीदास से इनकी आत्मीयता। एक बार एक व्यक्ति अपनी कन्या के विवाह के निमित्त धन न रहने के कारण घबराकर तुलसी के निकट पहुँचा। उन्होंने उसे एक पंक्ति लिखकर रहीम के पास भेज दिया— ‘सुरतिय नरतिय नागतिय, अस चाहत सब कोय।’ रहीम ने उस व्यक्ति को प्रचुर सम्पत्ति देकर उस पंक्ति के नीचे दूसरी पंक्ति लिख दी— ‘गोद लिए हुलसी फिरे, तुलसी सो सुत होय।’ और उसे तुलसीदास के पास भेज दिया।

भक्ति चाहे किसी की हो, वह मनुष्य को टूटने से बचाती है, आस्था देती है। शक्तिक्षम बनाती है और जीवनमार्ग की ओर प्रवृत्त कर संसार में विजयी होने को पुनः प्रेरित करती है। रहीम के स्वतः स्फूर्त भक्ति-विषयक दोहे इसके प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। शुक्लजी-सदृश आलोचक को भी लिखना पड़ता है— अपने उदार और ऊँचे हृदय को संसार के वास्तविक व्यवहारों के बीच रखकर जो संवेदना इन्होंने प्राप्त की है, उसी की व्यंजना अपने दोहे में की है। तुलसी के वचनों के समान रहीम के वचन भी हिन्दीभाषी भूभाग में सर्वसाधारण के वाणी में बसे रहते हैं।

नक्कूथान, मोहनपुर,  
समस्तीपुर-८४८१०१



## भ्रूण-पंचाशिका

□ भवनाथ झा

(पूर्वतोऽनुवृत्तम्)

सुरपतिदिशि पश्य प्रसृतामंशुराशिं  
निविडतिमिरपुञ्जं गज्जयन्तीमिदानीम् ।  
परिहर भयमेवं जागृहि प्रातरस्मि-  
न्नपनय निजदैन्यं रक्ष मां धात्रि चण्डात् ॥३३॥

गहरे अँधेरे को दुत्कारता हुआ किरणों का समूह अब पूरब दिशा में फैल रहा है। उसे देखो; डर छोड़ दो; इस सुबह में जागो; अपनी हीनता का भी त्याग करो। माँ! इस निर्दय से मुझे बचा लो।

प्रसरति विहगानां ध्वानमाविः समन्तात्  
कलमिव शिशुगीतं दिग्वधूनां मुखेभ्यः ।

उदयतटमुपेतां वीक्ष्य सद्यःप्रसूता-

मुषसमतुलकान्तां 'सोहराख्यं' च गीतम् ॥३४॥

अब चारों ओर चिड़ियों की चहचहाहट स्पष्ट होती जा रही है, जैसे उदयाचल पर नई-नई जनमी हुई अनुपम सौन्दर्यवाली 'उषा' को देखकर दिग्वधुओं की टोली बालगीत और सोहर गीत गा रही हो।

विकचकमलवक्त्रा भार्गवोद्दीप्तभाला

विकिरति मृदुहासं दिक्षु गर्वेण माता ।

उषसमनुदधानालिङ्ग्य बालां दिगैन्द्री

वितरति बहुपुण्यं पूजिता मानवौघैः ॥३५॥

खिले हुए कमल के समान मुखमण्डलवाली, शुक्र ग्रह को धारण करने के कारण चमकीले कपालवाली पूरब दिशा बच्ची उषा को अपनी अँकवारी में भरती हुई सभी दिशाओं में गर्व से अपनी मन्द-मन्द मुस्कान बिखेर रही है। साथ ही; सभी मनुष्य इसकी पूजा कर रहे हैं और यह ढेर-सा पुण्य बाँट रही है।

घटधरणपटुर्यागस्त्यमाताप्यवाची  
पटपिहितशराबं पूज्यपिष्टान्नपूर्णम् ।  
पुटयति गृहचेटी रक्तवस्त्रेण सैव  
वरुणनिलयगन्त्री रम्यसिन्दूरयुक्तम् ॥३६॥

(दक्षिण दिशा में घट से उत्पन्न) अगस्त्य मुनि की माता दक्षिण दिशा जो घड़ा लेकर चलने में माहिर है, वह नौकरानी के रूप में राजा वरुण के घर जानेवाली है। वही पूजा कने हेतु 'पीठा' से भरा हुआ सुन्दर सिन्दूर से युक्त तथा कपड़े से बँधे 'सकोरे' को लाल कपड़े से फिर बाँध रही है।

(मिथिला की परम्परा के अनुसार बच्चे के जन्म के अवसर पर सूचना देने हेतु सकोरे में पीठा और सिन्दूर डालकर लाल अथवा पीले कपड़े में बाँधकर निकट सम्बन्धियों के घर भेजा जाता है। इसमें लड़के के जन्म में पीले कपड़े तथा लड़की के जन्म में लाल कपड़े से वह सकोरा लिपटा हुआ रहता है)

उदयति किमु सूर्यो गोलको रक्तवर्णो

नहि, शिरसि धृतोऽसौ नीयमानः शराबः ।

परिवहति दिनेन प्रान्तरे दक्षिणा यं

सुरपतिगृहकन्याजन्मसंसूचनाय ॥३७॥

क्या यह लाल रंग का गोला जो ऊपर उठ रहा है, वह सूर्य है? नहीं! यह तो सिर पर धरा वही लाया जाता हुआ सकोरा है, जिसे दक्षिण दिशा इन्द्र के घर में लड़की के जन्म होने की सूचना देने के लिए दिनभर दोनों दिशाओं के अन्तराल में ढोती है।

त्वमपि जननि शय्यां मुञ्च मा गाः विषादं

गलपतितवरत्रं छिन्धि मौनं च सद्यः ।

मृदुलमृदुलगीतैर्मन्दमन्दैश्च हासैः

कलय कुलनिशान्तं देवरम्यं निशान्ते ॥३८॥

माँ! तुम भी सेज छोड़ दो। शोक मत करो। गले में पड़ी हुई रस्सी और अपनी चुप्पी को झटक कर तोड़ दो। अपने कोमल-कोमल गीतों से और मन्द-मन्द मुस्कान से अपने इस कुलगृह को इस रात्रि के अन्तिम पहर में देवताओं के लिए रमणीक बनाओ।

विगतसमरकाले योऽणुकैरस्त्रशस्त्रै-

र्मनुजहननकार्ये दानवीं कीर्तिमाप।

विदलयति हि गर्भं सैव विज्ञानरूपो

धृतबहुविधवेषो दानवो ध्वंसकर्ता ॥३९॥

पिछले युद्ध के समय जिस विज्ञानरूप दानव ने अणुओं / परमाणुओं से बने अस्त्र-शस्त्रों से मानव की हत्या करने में राक्षसों का-सा यश अर्जित किया, वही विध्वंसकारी अनेक बाना बनाकर इस गर्भ को काट रहा है।

अधिगतविभवाढ्या मानवीसृष्टिरेषा

कठिनतरतपोभिर्हायनानां सहस्रैः।

अतिशिथिलशरीरा श्वेतवर्णा मुमूर्षूः

दनुजरचितगर्तं याति हन्तोच्छ्वसन्ती ॥४०॥

हाय! हजारों वर्षों तक कठोर तपस्या कर जिस मानवी सृष्टि ने ऐश्वर्य प्राप्त किया, आज वह इस मृत्यु की वेला में उसाँसें लेती हुई, लथ-पथ देह धारण की हुई, सफेद हो चली। यह सृष्टि राक्षसों के द्वारा खोदे गए गड्ढे की ओर कदम बढ़ा रही है।

क्षितितलविनिपाताद्रक्तबिन्दून् विरुन्ध्य

विलुधदनुजयुद्धे रक्तबीजान्तकर्त्र्याः।

पुनरपि कलिकाले जन्म रोद्धुं निशुम्भो

जननमवरुणद्धि द्रौव्यकामः कुमारीम् ॥४१॥

पृथ्वी पर रक्त-बिन्दुओं को गिरने से रोककर देवासुर-संग्राम में जिस चण्डिका ने 'रक्तबीज' का वध किया था, इस कलियुग में उनके जन्म को रोकने के लिए दैत्यराज निशुम्भ अपना साम्राज्य

मजबूत करने की इच्छा से कन्या के जन्म को रोक रहा है।

क्षुरमतिशयतीक्ष्णं छिन्धि गर्भान्तकं त्वं

विदलय नरिजातं चालकं दारुमूर्ते!

मृगनयनि! विभज्याः वागुराणां प्रसारं

विगणय निजशक्तिं कोमलाञ्जातिघोराम् ॥४२॥

तुम इस तेज छुरे को तोड़ दो, जो तुम्हारे गर्भ का नाश कर रहा है। अरी कठपुतली! उन धागों को झटक दो, जो तुम्हें चला रहे हैं। अरी हिरनी-सी आँखोंवाली! तुम्हें फँसाने के लिए जो जाल फैला है, उसे टुकड़े-टुकड़े कर दो। अपनी शक्ति जो कोमल भी है और भयंकर भी है, उसे पहचानो

अहमपि रसवत्यां धर्तुमिच्छामि पादौ

तपनकिरणतप्ता शीतले स्नातुमब्जे।

परिमलितसमीरे संव्रजन्ती विदिक्षु

सह विहगकुलैर्वा वाश्यमाना सुगीतिम् ॥४३॥

मैं भी इस पृथ्वी पर दोनों पाँव रखना चाहती हूँ; सूरज की किरणों में तपकर चन्द्रमा में नहाना चाहती हूँ। फूलों की सुगन्धि से भरी हवा में दिशाओं के कोने-कोने में सरपट दौड़ लगाती हुई अथवा चिड़ियों के झुण्ड के साथ गीत गाती हुई रहना चाहती हूँ।

अनुमतिमपि गन्तुं देहि मातः सुशीले!

भवसि यदि न शक्ता रक्षितुं मां हताशे!

नमनमनुवृणीयाः मे तदान्त्यं दयाद्रे!

पितुरपि चरणाब्जे ब्रूहि तन्मद्वचोभिः ॥४४॥

हे माँ! तुम बहुत अच्छी हो, किन्तु यदि तुम आशा छोड़ चुकी हो और मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो तो मुझे जाने की अनुमति दो। हे दयालु माँ! मेरा अन्तिम प्रणाम स्वीकार करो। मेरी ओर से पिताजी के चरणकमलों में भी मेरा प्रणाम निवेदित कर देना।

प्रतिदिनमयुतानां बालिकानां निपातो  
भवति जगति नैका मन्दभाग्यास्मि मातः।  
दिशतु दिवि समेत्यानन्तकालेन सर्वाः  
भुवि जननसकामाः कैस्तपोभिर्भवेम ॥४५॥

दसों हजार कन्याएँ इस संसार में प्रतिदिन गिरा दी जाती हैं। मैं अकेली ऐसी अभागिनी नहीं हूँ। हे माँ! यह तो बताओ कि स्वर्गलोक जाकर अनन्तकाल तक हम सभी कौन-सी तपस्या करें, जिससे पृथ्वी पर जन्म लेने की हमारी साध पूरी हो!

अनुनयमपि मातः स्वशिशोः संपिपूर्याः  
कलयतु शिशुगीतं कोकिलाकल्पकण्ठात्।  
रससरसितरङ्गे लीयमाना च तस्मि-  
न्नतलसलिलशोकाब्धेः प्रयास्यामि पारम् ॥४६॥

हे माँ! अपनी बच्ची की एक विनती पूरा कर दो। कोकिला के समान अपने गले से लोरी सुना दो, जिससे उसी के रस की नदी की लहरों में लहराती मैं अथाह जलवाले शोकरूपी समुद्र को पार कर लूँगी।

तपति यदि रजोभिस्तप्ततप्तैर्मदीय-  
स्त्रिदिवगमनमार्गः कल्पितस्तत्त्वविद्धिः।  
तदिह जननि मह्यं देहि पाथेयमन्त्यं  
नयनसलिलपूरं हन्त! देयं किमन्यत् ॥४७॥

माँ! जैसा कि तत्त्वज्ञानियों ने स्वर्ग जाने के रास्ते को गरम-गरम बालू से तपा हुआ बताया है; यदि ऐसा है तो फिर मुझे अन्तिम पाथेय (बटखरचा) के रूप में अपने आँसू की धार मुझे दो। इसके अलावा तुम्हारे पास देने के लिए है ही क्या?

कुरु जननि मदीयं भ्रातरं स्वाङ्कसंस्थं-  
शशिमुखमनुवीक्ष्योर्वीसमा संजुषस्व।

चरणयुगलपदौस्तस्य मां स्पर्शयन्ती  
यदिह मम नमस्या सम्भवेदग्रजस्य ॥४८॥

माँ! मेरे भैया को अपनी गोद में ले लो तथा उसके चन्द्रमा के समान मुखड़ा देखकर धरती की तरह खुश हो जाओ। साथ ही, उसके चरणकमलों से मुझे छुआ दो, ताकि अपने बड़े भाई की मेरी पूजा भी सम्भव हो जाए।

सुतमुखशशिदीप्ते भास्वरे स्वे निशान्ते  
स्मरणमपि सुतायाः किं नु मे पातितायाः।  
रहसि तमसि तूष्णीं संस्थितायाः धरायां  
क्षुपिहिततले वा गृध्रनिःशेषितायाः ॥४९॥

मुझे तो गिरा दिया जाएगा; एकान्त अँधेरे में धरती में मैं दफना दी जाऊँगी; अथवा झाड़ियों के झुरमुट में फेंक दी जाऊँगी— जहाँ गीध मुझे चट कर जाएँगे। लेकिन अपने बेटे के मुखचन्द्र की उजास में चमकते अपने इस घर में क्या तुम्हें अपनी बेटी की याद भी आएगी?

इति करुणवचोभिर्बोधिता सा प्रभाते  
रविकरनिकराभा संबभौ त्यक्तशोका।  
करकमलयुगेनाच्छाद्य गर्भं समन्तात्  
त्वमसि मम सुकन्येत्येव संव्याजहार ॥५०॥

इस तरह करुणा-भरे शब्दों के द्वारा समझाई गई वह नारी प्रातःकाल में शोक का त्याग कर सूरज की किरणों के समान चमकने लगी। वह अपने करकमलों से अच्छी तरह अपने गर्भ को ढँककर इतना ही बोल उठी— 'तुम मेरी अच्छी बेटी हो!'

इति मधुबनीमण्डलान्तर्गतहटाढरूपौलीग्राम-वास्तव्येन पण्डितामरनाथात्मजेन भवनाथेन कृता भूणपंचाशिका समाप्ता।

(रचनाकाल : अक्टूबर २००२ ई०)

नमो गुरुभ्यः पितृचरणेभ्यः



खेद के साथ सूचित किया जा रहा है कि 'धर्मायण' के प्रकाशन में बार-बार होते विलम्ब को नियन्त्रित करने के लिए इस बार अंक ६४-६५ को संयुक्त किया गया है। इसके बाद यह यथावत् प्रकाशित होता रहेगा। -सं०

## पाठकीय प्रतिक्रिया

आपका ६२ वाँ अंक पढ़ा। इसमें संकलित सभी रचनाएँ ज्ञानवर्धक जीवनोपयोगी एवं संस्कारक हैं। एतदर्थ समस्त लेखकों के साथ-साथ सम्पादक-मण्डल धन्यवाद के पात्र है।

२७३४, पहला तल्ला, मोहन लाल पैलेस,  
नया बाजार, दिल्ली-११०००६



मैं पेशे से सर्वोच्च न्यायालय का एडवोकेट हूँ और बिहार का ही रहनेवाला हूँ। विगत पटना-प्रवास में आपकी पत्रिका 'धर्मायण' देखने का सुअवसर मिला, जो बहुत ही अच्छी पत्रिका है। इसलिए आप मुझे इसका वार्षिक शुल्क सम्बन्धी सूचना भेजने की कृपा करेंगे और साथ ही मेरे निम्नलिखित निवासीय पते पर प्रत्येक महीना आप अपनी बहुमूल्य पत्रिका भेजने का कष्ट करेंगे। इसके लिए मैं आपका सदैव आभारी रहूँगा।

वार्षिक शुल्क जो भी आप लिखकर भेजेंगे, आपको भेज दिया जायेगा, लेकिन पत्रिका तुरन्त भेजने का कष्ट करेंगे।

आर०जेड०ए० १ / ८, पीपलवाली लेन,  
महावीर इनक्लेव, पालम डबरी मार्ग,  
नई दिल्ली-११००४५



### प्रपत्र नियम ८ के अनुसार धर्मायण

१. प्रकाशन का स्थान : पटना
२. आवर्तिता : त्रैमासिक
३. प्रकाशक एवं मुद्रक का नाम : प्रो० काशीनाथ मिश्र  
क्या भारत के नागरिक है? : हाँ  
(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)  
पता : महावीर मन्दिर,  
पटना जंक्शन, पटना-१
४. सम्पादकमण्डल : आचार्य सीताराम चतुर्वेदी  
प्रो० काशीनाथ मिश्र  
महन्त उद्धवदासजी  
डा० श्रीरंजन सूरिदेव  
आचार्य किशोर कुणाल  
प्रधान सम्पादक : भवनाथ झा  
क्या भारत के नागरिक हैं? : हाँ  
(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)  
पता : महावीर मन्दिर, पटना  
जंक्शन, पटना-१  
सह-सम्पादक : मार्कण्डेय शारदेय  
क्या भारत के नागरिक हैं? : हाँ  
(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)  
पता : महावीर मन्दिर, पटना  
जंक्शन, पटना-१
५. स्वत्वाधिकार : श्री महावीर स्थान न्यास समिति, महावीर मन्दिर,  
पटना जंक्शन, पटना-१

मैं प्रो० काशीनाथ मिश्र एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

ह० प्रो० काशीनाथ मिश्र

f

## व्रत-व्योहार

f

क्रांती	ती	क्र ४००८ मृ ४००८ त्रिफल
ईसाई नववर्षारम्भ		बृहस्पतिवार ०१/०१/२००४
पुत्रदा एकादशी (सबकी)		शनिवार ०३/०१/२००४
पौषी पूर्णिमा		बुधवार ०७/०१/२००४
मकर संक्रान्ति		बुध-बृहस्पतिवार १४-१५/०१/२००४
मौनी अमावस्या		बुधवार २१/०१/२००४
नेताजी सुभाषचन्द्र बोस जयन्ती		शुक्रवार २३/०१/२००४
भारतीय गणतन्त्र-दिवस / सरस्वती-पूजा		सोमवार २६/०१/२००४
महात्मा गांधी-स्मृति दिवस		शुक्रवार ३०/०१/२००४
जया एकादशी (सबकी)		सोमवार ०२/०२/२००४
माघी पूर्णिमा / रविदास-जयन्ती		शुक्रवार ०६/०२/२००४
विजया एकादशी (सबकी) स्वामी दयानन्द सरस्वती-जयन्ती		सोमवार १६/०२/२००४
फाल्गुनी अमावस्या		शुक्रवार २०/०२/२००४
मुसलिम नववर्षारम्भ (हिजरी) / स्वामी रामकृष्ण परमहंस-जयन्ती		रविवार २२/०२/२००४
आमलकी / रंगभरी एकादशी (सबकी)		मंगलवार ०२/०३/२००४
होलिकादाह / चैतन्य महाप्रभु जयन्ती / फाल्गुनी पूर्णिमा		शनिवार ०६/०३/२००४
होली		रविवार ०७/०३/२००४
पाप मोचनी एकादशी (सबकी)		बुधवार १७/०३/२००४
चैती अमावस्या		शनिवार २०/०३/२००४
चैती नवरात्रारम्भ		रविवार २१/०३/२००४
चैती छठ		शनिवार २७/०३/२००४
रामनवमी / चैती नवरात्र समाप्ति		मंगलवार ३०/०३/२००४
कामदा एकादशी (सबकी)		बृहस्पतिवार ०१/०४/२००४
महावीर (जैन) जयन्ती		शनिवार ०३/०४/२००४
चैती पूर्णिमा / हनुमजयन्ती		सोमवार ०५/०४/२००४
मेषसंक्रान्ति (सतुआनी) रात्रि ७.७ में		मंगलवार १३/०४/२००४
अम्बेदकर-जयन्ती		बुधवार १४/०४/२००४
वरूथिनी एकादशी (सबकी) / बल्लमाचार्य जयन्ती		बृहस्पतिवार १५/०४/२००४
सोमवती अमावस्या		सोमवार १६/०४/२००४
आद्य शंकराचार्य जयन्ती		शनिवार २४/०४/२००४
रामानुजाचार्य जयन्ती		रविवार २५/०४/२००४
शिवाजी जयन्ती		बृहस्पतिवार २६/०४/२००४
मोहिनी एकादशी (सबकी)		शनिवार ०१/०५/२००४
वैशाखी पूर्णिमा / चन्द्रग्रहण		मंगलवार ०४/०५/२००४
रवीन्द्र नाथ ठाकुर जयन्ती		बृहस्पतिवार ०६/०५/२००४
अचला एकादशी (सबकी)		शनिवार १५/०५/२००४
अमावस्या		बुधवार १६/०५/२००४
महाराणा प्रताप-जयन्ती		शनिवार २२/०५/२००४
निर्जला एकादशी (सबकी)		रविवार ३०/०५/२००४
पूर्णिमा / सन्त कबीर-जयन्ती		बृहस्पतिवार ०३/०६/२००४
योगिनी एकादशी (सबकी)		रविवार १३/०६/२००४
अमावस्या		बृहस्पतिवार १७/०६/२००४
विष्णुशयनी एकादशी (समार्तो की)		सोमवार २८/०६/२००४
विष्णुशयनी एकादशी (वैष्णवों की)		मंगलवार २९/०६/२००४



# वेदवाणी

(अंक ६३ से आगे)

**उच्छुष्णा ओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते ।**

**धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष । ।**

हे (रोगग्रस्त) पुरुष! जैसे गोशाला से गौएँ बाहर जाती हैं, वैसे ही ओषधियों की सारी शक्तियाँ मेरे (वैद्य के) पास से ऊपर उठकर तेरे (रोगी के) शरीर को प्रभावित करनेवाली हैं, ताकि मुझे (वैद्य को) धनलाभ हो।

**इष्कृतिर्नाम वो माताथो यूयं स्थ निष्कृतीः ।**

**सीराः पतन्निगीः स्थनः यदायमयति निष्कृथ । ।**

(हे ओषधियो!) तुम्हारी माता का नाम इष्कृति है, जो अंगों को स्वस्थता एवं सम्पुष्टि प्रदान करनेवाली है। और इसलिए तुम सब भी निष्कृति कहलाती हो। यह नाम इसलिए पड़ा कि तुम लोग रोगों को दूर करती हो। तुम सब प्रवाहयुक्त एवं उड़नेवाली हो, अर्थात् धरती और आकाश में विद्यमान रोगों को दूर करती हो। रोगी के शरीर में जो रोगकारक तत्त्व हैं, उन्हें दूर करो।

**अति विश्वाः परिष्ठाः स्तेनइव व्रजमक्रमुः ।**

**ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत् किं च तन्वोऽरपः । ।**

सर्वत्र व्यापी ओषधियाँ चोरों की तरह रोगों के किले पर आक्रमण कर शरीर का जो कुछ कष्ट रहता है, सबको बाहर कर देती हैं।

**यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे ।**

**आत्मा यक्षस्य नश्यति पुरा जीवन्मो यथा । ।**

जब मैं शक्तिसम्पन्न करते हुए इन ओषधियों को हाथ में धारण करता हूँ, तब रोग के प्राण उसी प्रकार सूख जाते हैं, जिस प्रकार शिकारी को देखते पशु।

**यस्योषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्यरुः ।**

**ततो यक्षं वि बाधध्व उवो मध्यमशीरिव । ।**

ओषधियाँ जिस रोगी के अंग-प्रत्यंग में जब व्याप्त हो जाती हैं, तब रोगों को उसी प्रकार भगा देती हैं, जिस प्रकार सिंह आदि हिंसक पशु हिरन आदि के समूह को।

**साकं यक्ष प्रपत चाषेण किकिदीविना ।**

**साकं वातस्य धाज्या साकं नश्य निहाकया । ।**

हे रोग! तुम नीककण्ट पक्षी के साथ उड़जाओ, आँधी के साथ उड़ जाओ, कुहासे के साथ समाप्त हो जाओ।

**अन्या यो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत ।**

**ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः । ।**

हे ओषधियो! मेरी प्रार्थना की रक्षा करो और एक ओषधि दूसरी ओषधि के पास तथा दूसरी तीसरी के पास जाती रहे। इस तरह तुम सब परस्पर एकमत रहो।

**याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा यास्व पुष्पिणीः ।**

**बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वं हसः । ।**

जिन ओषधियों में फल लगते हैं, जिनमें फल नहीं लगते, जिनमें फूल नहीं होते तथा जिनमें फूल होते हैं— ये सभी बृहस्पति से उत्पन्न ओषधियाँ हमें पापजन्य रोग से मुक्त करें।

(शेष अगले अंक में)

## ‘महावीर वात्सल्य अस्पताल’ का कार्य प्रगति पर

पटना जंक्शन स्थित ‘महावीर मन्दिर’ अपनी भव्यता और दिव्यता के लिए केवल बिहार में ही नहीं, बल्कि देश के अन्य प्रान्तों में भी प्रसिद्ध है। इस मन्दिर के साथ देश के करोड़ों लोगों की श्रद्धा जुड़ी हुई है।

यह मन्दिर “सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।” (अर्थात् सभी सुखी रहें, सभी नीरोग रहें, सभी कल्याण को देखें (सबके जीवन में कल्याण हो) तथा कोई दुःख का भागी न हो; इस महान् एवं सत् उद्देश्य की पूर्ति के लिए सदैव तत्पर तथा अग्रसर रहा है। जहाँ यह लोगों को सत्साहित्य का ज्ञान प्रदान करने के लिए धर्मायण-जैसी धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत पत्रिका का प्रकाशन कर रहा है, वहीं अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन भी। मन्दिर-परिसर में पुस्तक विक्री-केन्द्र है, जहाँ अनेक प्रकाशनों के उत्तम-उत्तम धार्मिक साहित्य प्राप्त होते हैं। ज्योतिष-मण्डप, रत्न-भण्डार, तिरुपति के कुशल कारीगरों द्वारा निर्मित नैवेद्यम् तथा पुरी के कुशल सूपकारों द्वारा बनाया जा रहा कैवल्यम् भी लोकहित के ही अंग हैं।

भक्ति की भागीरथी को अवतरित करते रहनेवाला महावीर-मन्दिर ‘सर्वे सन्तु निरामयाः’ को भी अत्यधिक महत्त्व देता है। ‘परिहित सरिस धरम नहिं भाई’ इस सन्त वचन के अनुसार सबकी भलाई करने के लिए चिकित्सा के क्षेत्र में भी इसने अपना कदम आगे बढ़ाया है। कंकड़बाग में ‘महावीर आरोग्य संस्थान’ तथा फुलवारी शरीफ में ‘महावीर कैंसर संस्थान’ लोक-कल्याण के ही प्रतिफल हैं।

अब महावीर मन्दिर गर्भवती महिलाओं तथा बच्चों की समुचित चिकित्सा के क्षेत्र में गतिमान होकर ‘महावीर वात्सल्य अस्पताल’ का शिलान्यास कर चुका है। यह अस्पताल कार्तिक पूर्णिमा-२००४ से अपना कार्य प्रारम्भ कर देगा। मन्दिर ने कोलकाता और दिल्ली के बीच उत्तर भारत का अपनी तरह का इकलौता अस्पताल बनाने के लिए एल०सी०टी० घाट (मैनपुरा, सदाकत आश्रम) के निकट ढाई बीघा जमीन खरीदी है और उक्त अस्पताल का शिलान्यास २१ अक्टूबर २००३ को ऋषीकेश के महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि के करकमलों से हो चुका है।

लगभग पाँच करोड़ की लागत से बन रहे ‘महावीर वात्सल्य अस्पताल’ में सर्जरी और मेडिसीन से सम्बन्धित सारी अत्याधुनिक सुविधाएँ होंगी और राज्य की निर्धन जनता इससे विशेष लाभान्वित होगी। इस अस्पताल में गर्भवती शिशुओं से लेकर बारह साल तक के बच्चों का इलाज होगा।

‘श्री महावीर न्यास समिति’ के निर्णय के अनुसार इस अस्पताल का अभी प्रथम चरण में ही शुभारम्भ होगा। इस चरण में तिमंजिले अस्पताल-भवन का निर्माण ग्यारह सौ फुट भूमि में चल रहा है। फिलहाल यहाँ सौ बेडों की व्यवस्था रहेगी। आगे चलकर यह चार सौ बेडोंवाले अस्पताल का रूप ले लेगा।

‘महावीर वात्सल्य अस्पताल’ जल्द-से-जल्द अपना कार्य करने लगे, इसके लिए युद्धस्तर पर कार्य हो रहा है। जनता भी इंतजार में है कि यह अस्पताल जल्दी काम करने लगे, ताकि दूर-दूर भटकना न पड़े।



## ‘महावीर कैंसर संस्थान’ विकास के पथ पर अग्रसर

१५ मार्च २००४ को जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल लेफ्टिनेंट जेनरल श्री एस०के० सिन्हा द्वारा हाई इनर्जी लीनियर एक्सीलरेटर ब्लॉक के शिलान्यास के साथ ही महावीर कैंसर संस्थान अपने विकास के दूसरे चरण में प्रवेश कर गया है। लगभग ४८ लाख रुपये की लागत से चार माह के अन्दर लीनियर एक्सीलरेटर ब्लॉक बनकर तैयार हो जाएगा फिर, उसके दो माह के अन्दर मशीन स्थापित कर दी जाएगी। यह मशीन लगभग ६ करोड़ रुपये की है और यह दुनिया की सबसे बेहतरीन अत्याधुनिक मशीन है। इसकी स्थापना से बिहार और झारखण्ड सहित पूर्वोत्तर भारत के कैंसर मरीजों को अत्याधुनिक, तुलनात्मक दृष्टि से सस्ता और सम्पूर्ण इलाज सुलभ हो सकेगा। वर्तमान में मशीन पूर्वोत्तर भारत में कहीं उपलब्ध नहीं है। इस मशीन की स्थापना से इन्टेंसिटी मॉड्युलेशन रेडियेशन थिरेपी से इलाज सम्भव हो सकेगा, जिसकी आवश्यकता का अनुभव लम्बे समय से किया जा रहा था।

कैंसर के इलाज में रेडियेशन, कीमोथिरेपी और सर्जरी-जैसी तीन पद्धतियों का इस्तेमाल होता है। यदि रेडियेशन भली-भाँति सम्भव हो तो अनेक मामलों में सर्जरी की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। हाई इनर्जी लीनियर एक्सीलरेटर मशीन से रेडियेशन अर्थात् सेंकाई ६ अलग-अलग प्रकार के इलेक्ट्रॉन बीम से किए जा सकते हैं जिससे शरीर के किसी भाग के गाँठ को पूरी तरह से खत्म किया जा सकता है। इस नई तकनीक से सामान्य ऊतकों (टीसू) में लिपटे हुए कैंसर को पूर्णतः खत्म कर दिया जा सकेगा और सामान्य ऊतक (टीसू) को किसी प्रकार की कोई हानि नहीं होगी। इस मशीन और इसकी अत्याधुनिक तकनीक (आई०एम०आर०टी०) से १-२ एम०एम० से छोटे ट्यूमर यहाँ तक कि ब्रेन ट्यूमर का भी इलाज किया जा सकेगा।

‘महावीर कैंसर संस्थान’ की स्थापना के समय संस्थापकों ने एक ऐसे संस्थान की परिकल्पना की थी, जहाँ कैंसर मरीजों को सर्वसुलभ, अत्याधुनिक और सम्पूर्ण इलाज उपलब्ध हो सके। हाई इनर्जी लीनियर एक्सीलरेटर मशीन की स्थापना के साथ ही वह सपना साकार हो जाएगा और बिहार-झारखण्ड सहित भारत के पूर्व-उत्तर क्षेत्र के कैंसर मरीजों को इलाज के लिए न तो लम्बे समय तक प्रतीक्षा करना होना और न कहीं अन्यत्र भटकना पड़ेगा।

अपने स्थापना काल से लेकर महज ५-६ वर्षों में ‘महावीर कैंसर संस्थान’ ने कैंसर मरीजों के इलाज में जिस उन्नति को छूआ है, लोग उसकी प्रशंसा सभी मुक्त-कण्ठ से करते हैं। आज स्थिति यह है कि कैंसर के इलाज में देश का नम्बर एक माना जानेवाला बम्बई स्थित ‘टाटा मेमोरियल कैंसर अस्पताल’ भी पूर्वोत्तर भारत से नहीं जाने सकनेवाले मरीजों को महावीर कैंसर अस्पताल में रेफर कर भेज रहा है। बम्बई स्थित टाटा मेमोरियल कैंसर अस्पताल में प्रतिवर्ष १५ हजार कैंसर रोगी इलाज के लिए पहुँचते हैं तो महावीर कैंसर संस्थान में पूर्वोत्तर भारत और नेपाल से १२ हजार कैंसर रोगी इलाज के लिए आते हैं। भारत सरकार ने अपने ‘राष्ट्रीय कैंसर निबन्धन कार्यक्रम’ के तहत देश के जिन प्रमुख केन्द्रों को कैंसर के सम्बन्ध में आँकड़े एकत्र कर भेजने की जिम्मेदारी सौंपी है; उनमें ‘महावीर कैंसर संस्थान’ को भी शामिल किया है। हमलोग जिलावार आँकड़े एकत्र कर भारत सरकार को भेज रहे हैं। एकत्रित आँकड़ों से पता चलता है कि १२ प्रतिशत से ज्यादा रोगी कैंसर रोग की अत्यन्त बढ़ी-स्थिति में इलाज के लिए आते हैं। ऐसे रोगियों को पूर्णतः ठीक नहीं किया जा सकता है; विभिन्न प्रकार की चिकित्सा से उनकी आयु थोड़ी-सी बढ़ाई जा सकती है। सिर्फ ७ प्रतिशत रोगी ही रोग की आरम्भिक अवस्था में इलाज के लिए आते हैं। ऐसे रोगियों को विभिन्न प्रकार की चिकित्सा से पूर्णतः ठीक किया जाता है। यह आम धारणा बन गयी है कि कैंसर लाइलाज है। परन्तु, ऐसा नहीं है। कैंसर का भी इलाज सम्भव है और कैंसर रोगी भी पूर्णतः स्वस्थ हो सकते हैं; यदि रोग की आरम्भिक अवस्था में इलाज कराए। जहाँ तक लाइलाज होने का सवाल है तो किसी भी रोग की अन्तिम अवस्था में पहुँच जाने पर वह लाइलाज ही होता है।

‘महावीर कैंसर संस्थान’ में सभी जाति, धर्म, वर्ग, समुदाय, ऊँच-नीच, गरीब-अमीर का भेद-भाव किए बिना बाजार-दर के आधे से भी कम मूल्य पर इलाज किया जाता है। ‘महावीर कैंसर संस्थान’ की आय का मुख्य स्रोत पटना जंक्शन के समीप स्थित महावीर मन्दिर में चढ़ावा का एक अंश और समाज के उत्साही स्त्री-पुरुषों द्वारा ‘संस्थान’ के पक्ष में किया गया दान है। इसे अब तक किसी सरकारी या गैर-सरकारी संस्थानों से कोई अनुदान नहीं मिला है। श्री हनुमानजी की अनुकम्पा से यह संस्था चल रही है और कैंसर के इलाज के सभी अत्याधुनिक उपकरण और पद्धतियाँ उपलब्ध हैं। विशेषज्ञों के बोर्ड द्वारा मरीजों की चिकित्सा-प्रणाली सुनिश्चित कर की जाती है।

‘महावीर कैंसर संस्थान’ में पूर्णतः विकसित कीमोथिरेपी वार्ड २०० शय्या का है। २४ घण्टे इन्टेंसिव केयर यूनिट कार्यरत रहता है। यहाँ कैंटिन, औषधालय, एम्बुलेंस सेवा, ब्लड बैंक उपलब्ध हैं। अभी तक ३३ हजार कैंसर रोगी यहाँ इलाज कराकर लाभान्वित हो चुके हैं। संस्थान को कैंसर में स्नातकोत्तर अध्ययन के लिए ‘नेशनल बोर्ड ऑफ एक्जामिनेशन’ से मान्यता प्राप्त है। आई०सी०एम०आर०, भारत सरकार के स्वास्थ्य विभाग, रेल मन्त्रालय, एटोमिक इनर्जी कमीशन, इण्डियन ऑयल कारपोरेशन, नेशनल थर्मल पावर कारपोरेशन, भारतीय सेना तथा विभिन्न राष्ट्रियकृत बैंकों से यह संस्थान मान्यता प्राप्त है।

सौजन्य : महावीर कैंसर संस्थान, फुलवारी शरीफ, पटना।

